वर्ष ४४ अंक ८ अगस्त २००६ मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

**हिन्दी मासिक**

**अगस्त २००६**

प्रबन्ध-सम्पादक

**स्वामी सत्यरूपानन्द**

सम्पादक

**स्वामी विदेहात्मानन्द**

वर्ष ४४

अंक ८

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए – रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

{सदस्यता-शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से बनवायें}

**रामकृष्ण मिशन**

**विवेकानन्द आश्रम**

**रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)**

दूरभाष: ०९८२७१ ९७५३५

०७७१ - २२२५२६९, २२२४११९

(समय: ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

## अनुक्रमणिका



मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)



प्रिंट आर्डर - १२,७५०

## विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्य

(छब्बीसवीं तालिका)

१०४०. श्रीमती लावण्य पटेल, कुन्ता रोड, नानी दमन (दमन)
१०४१. श्रीएस.बी.पराते, खामला, नागपुर (महा.)
१०४२. श्री महेशचन्द्र अग्रवाल, मैथन, आगरा (उ.प्र.)
१०४३. श्री प्रशान्त डी. ओझा, निजामपुरा, बड़ोदरा (गुज.)
१०४४. श्री सन्तलाल साहू, बैगनडीह, महासमुन्द (छ.ग.)
१०४५. श्री हर्ष चाण्डक, न्यू बस स्टैंड, राउरकेला (उड़ीसा)
१०४६. श्री अनिल कुमार तिवारी, पो. महादेव, सतना (म.प्र.)
१०४७. श्री अशोक कुमार केशरवानी, इलाहाबाद (उ.प्र.)
१०४८. श्री एस. के . खरे, अरेरा कॉलोनी, भोपाल (म.प्र.)
१०४९. श्री मनीष कुमार परमार, फाफाडीह, रायपुर (छ.ग.)
१०५०. डॉ. गौरी दत्ता, जरहाभाठा, बिलासपुर (छ.ग.)
१०५१. श्री दिनेश चन्द्र मण्डलोई, कुण्डी, धार (म.प्र.)
१०५२. श्री धीरेन्द्र कुमार टाँक, निजामाबाद (आन्ध्र प्रदेश)
१०५३. श्री भगत सिंह यादव, मठपारा रायपुर (छ.ग.)
१०५४. डॉ. देविन्दर बत्रा, गोहाना रोड, पानीपत (हरियाणा)
१०५५. श्री अशोक कुमार अग्रवाल, कसारीडीह, दुर्ग (छ.ग.)
१०५६. श्री उमाशंकर पटेल, भेडवन, रायगढ़ (छ.ग.)
१०५७. श्री धनंजयमणि त्रिपाठी, लोनावाला, पुणे (महा.)
१०५८. टी.सी.एल. शा.पी.जी कॉलेज, जाँजगीर-चाम्पा (छ.ग.)
१०५९. ब्र. यतीश चैतन्य, श्रीरामकृष्ण विद्याशाला, मैसूर
१०६०. पुरुषोत्तमलाल राठी, स्टेशन रोड, अकोला (महा.)
१०६१. श्री अतुल सिंह, गोविन्द बाजार, कोलकाता (पं.ब.)
१०६२. श्री प्रवीण अ. वर्मा, वाशिम (महाराष्ट्र)
१०६३. श्री सुरज गहलोत, के.ई.एम. रोड, बीकानेर (राज.)
१०६४. रविन्द्रनाथ टैगोर वाचनालय, दमोह (म.प्र.)
१०६५. महाराणा प्रताप म्यु. उ.मा. विद्यालय, दमोह (म.प्र.)
१०६६. डॉ. जागेश्वर सिंह ठाकुर, नाँदघाट, दुर्ग (छ.ग.)
१०६७. डॉ. नीरज दापके, पुराणिक ले आउट, नागपुर (महा.)
१०६८. श्री स्वास्तिक प्रसाद शर्मा, अम्बिकापुर, सरगुजा (छ.ग.)
१०६९. श्री बी.पी.परगनिहा, जे.पी. पुरम्, रीवा (म.प्र.)
१०७०. प्रो. ओ.पी.एन. कल्ला, शास्त्री नगर, जोधपुर (राज.)
१०७१. श्री अपूर्व प्रकाश जोशी, बड़ोदरा, (गुज.)
१०७२. स्वामी शंकर मुनि महाराज, संगरूर (पंजाब)
१०७३. श्री आलोक शर्मा, जनता कॉलोनी, जयपुर (राज.)
१०७४. श्री रामेश्वरराम बरवा, कुम्हार टोली, जशपुर (छ.ग.)
१०७५. श्री शेखर शुक्ला, बलोदा बाजार, रायपुर (छ.ग.)
१०७६. श्री विक्रमादित्य सिंह ठाकुर, बैतुल (म.प्र.)
१०७७. श्री महेश अग्रवाल, टोहाना, फतेहाबाद (हरियाणा)
१०७८. श्री राजेन्द्र गल्ला भण्डार, रामसागर पारा, रायुपर
१०७९. श्री विजय आनन्द शर्मा, जवाहर नगर, रायपुर (छ.ग.)

## लेखकों से निवेदन

**पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें —**

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो। पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय। पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हुई हो। भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दिया जाय।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अतः उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें। अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिए अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कविताएँ इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता। स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें। वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है।

## सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव **स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर** से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट – **'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़)** के नाम से बनवायें। यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना नाम, पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नं. आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें मत भेजें।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये '**व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय**' को लिखें।

## वैराग्य-शतकम्

**परेषां चेतांसि प्रतिदिवसमाराध्य बहुधा**
**प्रसादं किं नेतुं विशसि हृदय क्लेशकलितम् ।**
**प्रसन्ने त्वय्यन्तः स्वयमुदितचिन्तामणिगणो**
**विविक्तः संकल्पः किमभिलषितं पुष्यति न ते ।।६१।।**

**अन्वय – हृदय ! प्रतिदिवसं बहुधा परेषां चेतांसि आराध्य क्लेश-कलितं प्रसादं नेतुं किं विशसि, त्वयि अन्तः प्रसन्ने स्वयं चिन्ता-मणि-गणः उदितः विविक्तः संकल्पः ते किम् अभिलषितं न पुष्यति ।**

अर्थ – हे चित्त, क्यों तुम दूसरों के प्रसन्नता की आशा में प्रतिदिन उन्हें सन्तुष्ट करने के उपाय में लगे रहते हो? इसके लिए तुम्हें कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं ! बल्कि तुम स्वयं अपनी प्रसन्नता की उपलब्धि करने का प्रयास करो । समस्त संकल्पों को त्यागकर अपने अन्तर को संयमित करो, तो उसमें अनायास ही उच्च विचारों का उदय होगा और तुम्हारी कौन-सी अभिलाषा अपूर्ण रह जायेगी?

**परिभ्रमसि किं मुधा क्वचन चित्त विश्राम्यतां**
**स्वयं भवति यद्यथा भवति तत्तथा नान्यथा ।**
**अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसंकल्पय-**
**न्नतर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम् ।।६२।।**

**अन्वय – चित्त मुधा किं परिभ्रमसि क्व-चन विश्राम्यतां यत् यथा भवति तत् स्वयं तथा भवति, अन्यथा न । अतीतम् अननुस्मरन् अपि च भावि-असंकल्पयन् अहम् अतर्कित-समागमान् भोगान् अनुभवामि ।**

अर्थ – हे चित्त, तुम व्यर्थ ही क्यों भटकते हो? कहीं विश्राम तो करो । जहाँ जैसा होता है, वह अपने आप ही होता है, उससे भिन्न कुछ नहीं हो सकता । अतः मैं अतीत के शोक तथा भविष्य के संकल्पों को छोड़कर, प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले विषयों का ही भोग करूँगा ।

**– भर्तृहरि**

# गुरु-वन्दना

– १ –

(राग-केदार - ताल-दादरा)

गुरुदेव, आज हम पर, करुणा-कटाक्ष कीजै,
आये हैं आस लेकर, हमको उबार लीजै ।।

अज्ञान पंक में हम, डूबे हुए हैं कब से,
सन्मार्ग ढूँढ़ते हैं, आँखें खुली है जब से;
उस पार हो सकें हम, वह ज्ञान-शक्ति दीजै ।।

संसार के तपन से, जल-भुन चुके हैं हम तो,
अब आये हैं शरण में, ले पुष्प रूप मन को,
अपना सुहृद बनाकर, करुणा की वृष्टि कीजै ।।

विषयों की कामनाएँ हमको नचा रही हैं,
अपनी ही पूर्व कृतियाँ, अब खाये जा रही हैं;
हो आपकी कृपा तो, मम कर्मपाश छीजै ।।

अच्छी नहीं है लगती, दुनिया की खाकसारी,
उस पार अब लगा दो, नैया प्रभो हमारी,
सेवक 'विदेह' तब तो, अमृत-सुधा में भीजै ।।

– २ –

(यमन–कहरवा)

गुरु पदकमल परम सुखधाम ।
आवागमन मिटावत जग को,
जन्म-मरण को देत विराम ।।

ब्रह्मा-हरि-हर गुरु मूरत धर,
युग-युग प्रगटत मर्त्य अवनि पर,
भ्रान्त जगत् को पथ दिखलावत,
आश्रित जन के पूरन काम ।।

गुरु ही सुख-सम्पद पितु-माता,
भूत-भविष्य सकल के ज्ञाता,
कृपा-दृष्टि से साधु-सुजन को,
ले जावत है चिन्मय धाम ।।

धन्य भया यह जीवन मेरा,
अन्धकार था हुआ सबेरा,
भव-चिन्ता भागी 'विदेह' की,
तारक ब्रह्म मिला हरि नाम ।।

# यूरोप की आसुरी सभ्यता

*स्वामी विवेकानन्द*

अद्वैत आश्रम, मायावती द्वारा प्रकाशित State Society and Socialism नामक संकलन में प्रश्नोत्तर के रूप में स्वामीजी के विचारों का संयोजन किया गया है। प्रस्तुत हैं उसी पुस्तक के महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

**प्रश्न – आधुनिक यूरोपीय सभ्यता किस प्रकार अस्तित्व में आई?**

**उत्तर –** उपलब्ध इतिहास से ज्ञात होता है कि जम्बूद्वीप (एशिया) के मध्य भाग और अरब की मरुभूमि में असुरों का प्रधान अड्डा था। इन स्थानों में इकट्ठे होकर असुरों की सन्तान –चरवाहों और शिकारियों ने सभ्य देवताओं का पीछा करके उन्हें सारी दुनिया में फैला दिया।

वैसे यूरोप खण्ड के आदिम निवासियों की एक विशेष जाति पहले से ही थी। इस जाति का पर्वत की गुफाओं में निवास था और उनमें जो लोग अधिक बुद्धिमान थे, वे थोड़े जलवाले तालाबों में मचान बाँधकर उन्हीं पर रहते और घर-द्वार का निर्माण करते थे। ये लोग अपने सारे काम चकमक पत्थर से बने तीर, भाले, चाकू, कुल्हाड़ी आदि से ही चलाते थे।

**ग्रीक या यूनानी**

क्रमश: जम्बूद्वीप के मनुष्यों का स्रोत यूरोप के ऊपर गिरने लगा। इससे कहीं-कहीं अपेक्षाकृत सभ्य जातियों का अभ्युदय हुआ। रूस देश की किसी-किसी जाति की भाषा भारत की दक्षिणी भाषा से मिलती है; पर ये जातियाँ बहुत दिनों तक अति बर्बर अवस्था में रही। एशिया माइनर के सभ्य लोगों का एक दल समीप के द्वीपों में जा पहुँचा। उसने यूरोप के निकटवर्ती स्थानों पर अपना अधिकार जमाया और अपनी बुद्धि तथा प्राचीन मिस्र की सहायता से एक अपूर्व सभ्यता की सृष्टि की। हम उन्हें 'यवन' और यूरोपीय लोग 'ग्रीक' कहकर पुकारते हैं।

**यूरोपीय जातियों की सृष्टि**

इसके बाद इटली में रोमन नामक एक दूसरी बर्बर जाति ने इट्रस्कन (Etruscan) नाम की सभ्य जाति को हराया और उसकी विद्या-बुद्धि को अपना कर स्वयं सभ्य हो गयी। क्रमश: रोमन लोगों का चारों ओर अधिकार हो गया। यूरोप खण्ड के दक्षिण और पश्चिम भाग के समस्त असभ्य लोग उनकी प्रजा बने, केवल उत्तरी भाग में जंगली बर्बर जातियाँ ही स्वाधीन रहीं। काल के प्रभाव से रोमन लोग ऐश्वर्य ओर विलासिता से दुर्बल होने लगे, उसी समय फिर जम्बूद्वीप की असुर सेना ने यूरोप के ऊपर चढ़ाई की। असुरों की मार खाकर उत्तर यूरोपीय बर्बर जातियाँ रोमन साम्राज्य के ऊपर टूट पड़ी और रोम का नाश हो गया। अब उन्हीं असुरों की ताड़ना से यूरोप की बर्बर जातियों तथा नष्ट होने से बचे हुये रोमन और ग्रीक लोगों ने मिलकर एक अभिनव जाति की सृष्टि की। इसी समय रोम द्वारा विजित तथा विताड़ित यहूदी जाति यूरोप में फैल गयी। साथ ही उनका नवीन ईसाई धर्म भी यूरोप में फैल गया। ये सब विभिन्न जातियाँ – सम्प्रदाय, विचार और नाना प्रकार के आसुरी पदार्थ महामाया की कड़ाही में, रात-दिन की लड़ाई तथा मारकाट रूपी आग के द्वारा गलकर मिल गये। इसी से यूरोपीय जातियों की सृष्टि हुई।

हिन्दुओं का सा काला रंग, उत्तरी देशों का दूध की तरह सफेद रंग, काले, भूरे अथवा सफेद केश, काली, भूरी, नीली आँखें, खास हिन्दुओं की तरह नाक, मुँह और आँखें तथा चीनियों की तरह चपटे मुँह – इन सब आकृतियों से युक्त बर्बर – अतिबर्बर यूरोपीय जाति की उत्पत्ति हो गयी। कुछ दिनों तक वे आपस में ही मारकाट करते रहे; उत्तर के डाकू मौका पाने पर जो अपने से अधिक सभ्य थे, उनका नाश करने लगे। बीच में ईसाई धर्म के दो गुरु – इटली के पोप और पश्चिम में कुस्तुन्तुनिया शहर के पेट्रियार्क – इस पशुप्राय बर्बर जाति और उसके राजा-रानी के ऊपर शासन करने लगे।

इस ओर अरब की मरुभूमि में मुसलमानी धर्म की उत्पत्ति हुई; जंगली पशु के तुल्य अरबों ने एक महापुरुष की प्रेरणा से, अदम्य तेज और अनाहत बल से पृथ्वी के ऊपर आघात किया। पश्चिम-पूर्व के दो प्रान्तों से उस तरंग ने यूरोप में प्रवेश किया, उसी प्रवाह के साथ भारत और प्राचीन ग्रीक की विद्या-बुद्धि यूरोप में प्रवेश करने लगी।[१४]

यह यूरोप क्या है? क्यों एशिया, अफ्रीका और अमेरिका के काले, भूरे, पीले और लाल निवासी यूरोप-वासियों के पैरों पर गिरते हैं? क्यों कलियुग में यूरोपवासी ही एकमात्र शासनकर्ता हैं? इस यूरोप को समझने के लिये हमें पाश्चात्य महानता तथा गौरव के केन्द्र फ्रांस की ओर जाना होगा। इस पृथ्वी का आधिपत्य यूरोप के हाथ में है और यूरोप का महाकेन्द्र पेरिस है। पाश्चात्य सभ्यता, रीति-नीति, प्रकाश

अंधकार, अच्छा-बुरा सबकी अन्तिम पराकाष्ठा का भाव इसी पेरिस नगरी से प्रादुर्भूत होता है। ...

यह फ्रांस प्राचीन समय से गौल (Gaulois), रोमन (Roman), फ्रांक (Frank) आदि जातियों की संघर्ष-भूमि रहा है। इसी फ्रांक जाति ने रोमन साम्राज्य का नाश करने के बाद यूरोप में आधिपत्य जमाया। इनके बादशाह शार्लेमॅग्ने (Charlemagne) ने तलवार के बल पर यूरोप में ईसाई धर्म का प्रचार किया। इसी फ्रांक जाति के द्वारा ही एशिया का यूरोप के साथ परिचय हुआ – इसीलिये आज भी हम यूरोपवासियों को फ्रांकी, फिरंगी, प्लांकी, फिलिंग आदि नामों से सम्बोधित करते हैं।

पाश्चात्य सभ्यता का आदि केन्द्र – प्राचीन यूनान डूब गया, रोम के चक्रवर्ती राजा बर्बरों के आक्रमण-तरंग में बह गये, यूरोप का प्रकाश बुझ गया। इधर एशिया में भी एक बर्बर जाति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे अरब कहते हैं। वह अरब-तरंग बड़े वेग से पृथ्वी को आच्छादित करने लगी। महाबली पारसी जाति अरबों के पैरों के नीचे दब गयी। उसे मुसलमान-धर्म ग्रहण करना पड़ा। किन्तु उसके प्रभाव से मुसलमान-धर्म ने एक दूसरा ही रूप धारण किया। वह अरबी धर्म पारसी सभ्यता में सम्मिलित हो गया।

अरबों की तलवार के साथ पारसी सभ्यता धीरे-धीरे फैलने लगी। वह पारसी सभ्यता प्राचीन यूनान और भारत से ही ली हुई थी। पूर्व और पश्चिम – दोनों ओर से बड़े वेग के साथ मुसलमान-तरंग ने यूरोप के ऊपर आघात किया, साथ-ही-साथ अन्धकारपूर्ण यूरोप में ज्ञान-रूपी प्रकाश फैलने लगा। प्राचीन यूनानियों की विद्या, बुद्धि, शिल्प आदि ने बर्बराक्रान्त इटली में प्रवेश किया। धरा-राजधानी रोम के मृत-शरीर में प्राण-स्पन्दन होने लगा – उस स्पन्दन ने फ्लोरेंस (Florence) नगरी में प्रबल रूप धारण किया, प्राचीन इटली ने नवजीवन धारण करना आरम्भ किया – इसी को नवजन्म अर्थात् रेनेसाँ (renaissance) कहते हैं। किन्तु वह नवजन्म इटली का था। यूरोप के दूसरे अंशों का उस समय प्रथम जन्म हुआ। ईसा की सोलहवीं शताब्दी में, जब भारत में अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ आदि मुगल सम्राट् बड़े-बड़े साम्राज्यों की सृष्टि कर रहे थे, उसी समय यूरोप का नवजन्म हुआ।

इटलीवाले प्राचीन जाति के थे, एक बार जँभाई लेकर, फिर करवट बदल कर सो गये। उस समय कई कारणों से भारतवर्ष भी कुछ-कुछ जाग रहा था। ...

यूरोप में, इटली के पुर्नजन्म ने बलवान, अभिनव फ्रांक जाति को व्याप्त कर लिया। चारों ओर से सभ्यता की सब धाराओं ने आकर फ्लोरेंस नगरी में एकत्र हो नवीन रूप धारण किया। किन्तु इटलीवासियों में उस नव-ऊर्जा को धारण करने की शक्ति नहीं थी। वह उन्मेष भारत की ही तरह उसी जगह समाप्त हो जाता, किन्तु यूरोप के सौभाग्य से इस नवीन फ्रांक जाति ने उस तेज को आदरपूर्वक ग्रहण किया। नवीन जाति ने उस तरंग में बड़े साहस के साथ अपनी नौका छोड़ दी। उस स्रोत का वेग क्रमशः बढ़ने लगा। वहाँ एक धारा सैकड़ों धाराओं में विभक्त होकर बहने लगी। यूरोप की अन्यान्य जातियाँ लोलुप हो मेंड काटकर उस जल को अपने-अपने देश में ले गयीं और उसमें अपनी जीवनी-शक्ति को सम्मिलित कर उसके वेग और विस्तार को और भी अधिक बढ़ा दिया। ...

फ्रांस ही स्वाधीनता का उद्‌गम-स्थान है। इस पेरिस महानगरी से ही प्रजा-शक्ति ने बड़े वेग से उठकर यूरोप की जड़ को हिला दिया। उसी दिन से यूरोप का नया आकार सामने आया। वह 'Liberte, Egalite, fraternite' (स्वधीनता, समानता, बन्धुत्व) की ध्वनि अब फांस में नहीं सुनायी पड़ती। फ्रांस अब दूसरे भावों, दूसरे उद्देश्यों का अनुसरण कर रहा है, किन्तु यूरोप की अन्यान्य जातियाँ अभी भी उसी फ्रांसीसी विप्लव का अभ्यास कर रही हैं।[१५]

❖ (क्रमशः) ❖

**सन्दर्भ-सूची –**

**१४**. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड १०, पृ. १०५-०६; **१५**. वही, खण्ड १०, पृ. ९१-९४

**कर्म और पुनर्जन्म** – *श्रीरामकृष्ण*

ईश्वर में भक्ति-विश्वास नहीं है, इसीलिए तो जीव को इतना कर्मभोग भोगना पड़ता है। देह त्यागते समय मन में ईश्वर का चिन्तन रहे, इसके लिए पहले से ही उपाय करना होगा। वह उपाय है अभ्यास-योग। यदि जीवन भर ईश्वर-चिन्तन का अभ्यास किया जाए, तो अन्त में भी मन में ईश्वर का ही विचार आएगा। सिद्ध (भुना हुआ) धान बोने से अंकुर नहीं निकलता, असिद्ध (बिना भुने) धान में ही अंकुर आते हैं, वैसे ही 'सिद्ध' होकर मरने से मनुष्य को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, परन्तु यदि वह 'असिद्ध' अवस्था में मरे, तो उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है।

# श्रीराम-वाल्मीकि-संवाद (८/२)

*पं. रामकिंकर उपाध्याय*

(आश्रम द्वारा १९९६-९७ में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोहों के समय पण्डितजी ने उपरोक्त विषय पर जो प्रवचन दिये थे, यह उसी का अनुलेख है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

जनकपुर की स्त्रियाँ श्रीराम के सुन्दर रूप को देखकर सम्मोहित होती हैं। सुन्दरता को देखकर सम्मोहित कौन नहीं होता? पर उनकी आँखें कैसी हैं? – वे सुनयनी हैं। और उनकी भावना क्या है? श्रीराम को देखकर यदि जनकपुर की युवती कन्याओं के हृदय में यह भावना उत्पन्न हो कि ये बड़े सुन्दर हैं, इनसे मेरा विवाह हो जाय, तो कितना अच्छा हो! तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। पर गोस्वामीजी उनकी दृष्टि की विशेषता बताते हैं – राम तो सुन्दर ही हैं, पर इन लोगों के पास देखने की जो आँखें हैं, वे सुनेत्र हैं। एक सखी कहती है – लगता है कि ब्रह्मा ने इस राजकुमार का निर्माण सीताजी के लिये ही किया है। मेरे लिये किया है – यही संसार की सामान्य वृत्ति है। वे कहती हैं –

**जेहिं बिरंचि रचि सीय सँवारी।**
**तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी।। १/२२३/७**

यहाँ भोक्तापन की वृत्ति नहीं है, अधिकार की वृत्ति नहीं है, अपितु उनके हृदय में भोक्तापन और अधिकार के त्याग का जो संकल्प उत्पन्न होता है, वही यह सिद्ध कर देता है कि विदेहनगर की युवतियाँ सचमुच देह से ऊपर हैं।

उससे भी बड़ी एक बात और है। एक सखी ने कहा – "तुम ठीक कहती हो; ब्रह्माजी ने तो बना दिया, पर इन जनक की दशा तो देखो! इन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है कि जो धनुष तोड़ेगा, उसी से मैं अपनी कन्या का विवाह करूँगा। ये बड़े सुन्दर तो दिखाई देते हैं, पर ऐसा नहीं लगता कि ये शक्तिशाली भी हैं। इनसे तो धनुष टूटेगा ही नहीं।" तब सखी एक बड़ा अनोखा प्रस्ताव करती है – मुझे तो लगता है कि इन्हें देखकर जनक को प्रतिज्ञा छोड़ देनी चाहिये और इन्हीं से सीताजी का विवाह कर देना चाहिये –

**जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू।**
**पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।। १/२२२/२**

दूसरी सखी ने कहा – "तुम जानती हो कि महाराज जनक बड़े सत्यनिष्ठ हैं, धर्मनिष्ठ हैं। वे अपनी प्रतिज्ञा कैसे छोड़ेंगे?" कोई अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दे, तो समाज में उसकी निन्दा होती है। प्रतिज्ञा पर अटल रहे, तो प्रशंसा होती है। पर सखी बोली – जनक ने तो बहुतों के ज्ञान की परीक्षा ली, पर आज जनक के ही ज्ञान की परीक्षा है। उनको देखकर वे प्रतिज्ञा छोड़ दें, तो ज्ञानी हैं और न छोड़ें, तो अज्ञानी –

**सखि परन्तु पनु राउ न तजई।**
**बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई।। १/२२२/४**

यह तो बिल्कुल नई परिभाषा हुई। समझ में आ गया कि महाराज जनक कहने को तो ज्ञानी थे, पर विवेकशून्य थे। मानो उनकी भावना यह है कि राम के सौन्दर्य को देखकर विवेक में रहना कोई ऊँची वस्तु नहीं है। विवेक से भी ऊपर उठ जाना चाहिये। अन्त में प्रतिज्ञा छोड़ देने का अर्थ यही तो था कि परलोक बिगड़ जायेगा। पर सच्चे त्यागी की परीक्षा तो यही है कि उनके मन में परलोक का कोई प्रश्न ही न रह जाय। यदि नहीं छोड़ते हैं, तो हठी हैं, अविवेकी हैं।

इतना ही नहीं, उनके हृदय में जो दिव्य सर्वत्याग की भावना आई, उसे लेकर जनकपुर-वासिनी युवतियों ने श्रीराम पर व्यंग्य किया। और वह यही था कि वहाँ श्रीराम तो कोहबर में संकोच में सिर झुकाये बैठे हैं। सखियाँ चाहती हैं कि दृष्टि उठाकर देखें। तो एक सखी ने व्यंग्य भरी भाषा का प्रयोग करते हुये कहा – कितना घमण्डी राजकुमार है कि अपने को छोड़कर दूसरे को देखता ही नहीं; अरे, हम लोग यहाँ बैठे हैं, आँखें उठाकर देखना तो चाहिये कौन-कौन बैठे हैं। दूसरी सखी ने कहा कि बात तो सही लग रही है।

लक्ष्मण जी से रहा नहीं गया। बोले – घमण्डी तो नहीं है, पर यदि हों भी तो गलत क्या है? आप लोग धनुष न टूटने से कितनी दुखी थी और इन्होंने धनुष तोड़कर विश्व-विजय की धारणा पूरी कर दी। क्या उनको गर्व करने को अधिकार नहीं है। तब सखी ने व्यंग्य भरे स्वर में कहा – धनुष क्या इन्होंने तोड़ा? – क्यों? बोली – वाटिका में जिन्हें फूल तोड़ने में पसीना आ गया हो, वह धनुष क्या तोड़ता –

**भाल तिलक श्रमबिन्दु सुहाये। १/२३३/३**

तब धनुष टूटा कैसे? गोस्वामीजी ने लिखा है कि श्रीराम जब धनुष तोड़ने के लिये चले तो सखियाँ और जनकपुर के जितने नर-नारी हैं, उन्होंने याद करना शुरू किया कि हमने कितना दान किया है, कितनी पूजा की है, कितना पाठ किया है, कितने यज्ञों में भाग लिया है। और प्रार्थना करने लगे – "हे देवताओ, हे पितरो, हमने जो भी पुण्य किया हो, उसका फल हमें नहीं चाहिये। हमें पुण्य के बदले में आप कुछ मत

दीजिये। – क्या करें? बोले – राम के हाथ से धनुष तुड़वा दीजिये और हमारा सारा पुण्य आप ले लीजिये –

**चलत राम सब पुर नर नारी।**
**पुलक पूरि तन भये सुखारी।।**
**बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे।**
**जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे।।**
**तौ सिवधनु मृनाल की नाईं।**
**तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं।। १/२५५/६-८**

कितनी ऊँची त्याग की वृत्ति है? व्यक्ति परलोक बचाने की चिन्ता करता है, उन्हें कुछ नहीं चाहिये। परन्तु सौन्दर्य के द्वारा इनकी वृत्तियाँ कितनी ऊँचाई तक पहुँच चुकी हैं। सौन्दर्य और देखने की दृष्टि तो मिथिलावासियों के पास है, पर देखने की वृत्ति के साथ अनन्यता भी चाहिए। अनन्यता के दो अर्थ हैं। इसका एक अर्थ तो हनुमानजी के प्रसंग में है और दूसरा अर्थ लक्ष्मणजी के प्रसंग में।

यह सौन्दर्य जो जनकपुर-वासियों को, अयोध्या-वासियों को सम्मोहित करता है, वह सौन्दर्य लंका-वासियों को भी तो सम्मोहित करता है। लंका के राक्षस क्या राम की सुन्दरता को देखकर मोहित नहीं होते? श्रीराम उस दण्डकारण्य में निवास कर रहे हैं, जो लंका की अग्रिम चौकी है, जहाँ उसके सैनिक तथा उसके भाई – खर, दूषण और त्रिसिरा निवास करते हैं। ये दण्डकारण्य में रहते हैं, मुनियों की साधना में विघ्न डालते हैं और लंका के प्रहरी भी हैं कि इधर से कोई लंका की ओर न जा सके। वहीं सूर्पणखा भी अपने भाइयों के साथ रहती है। सूर्पणखा रावण की बहन है –

**सूपनखा रावन कै बहिनी।**
**दुष्ट हृदय दारुन जस अहिनी।। १/१७/३**

सीताजी वैदेही हैं, तो सूर्पणखा भी विश्रवा मुनि की बेटी है। पर गोस्वामीजी उसका उल्लेख न करके कहते हैं कि वह रावण की बहन है। तो कहा जा सकता है – चिन्ता की क्या बात! रावण के भाई विभीषण तो बड़े सज्जन थे, शायद सूर्पणखा रावण की बहन होते हुये भी विभीषण के ही समान भक्त होगी। तो गोस्वामीजी बोले – हम पहले ही बता दें कि वह न केवल रावण की बहन है, अपितु दुष्ट-हृदय भी है। उसके हृदय में महान् दुष्टता है और वह सर्पिणी के जैसी दारुण है। संस्कृत साहित्य में सर्पिणी को सर्वाधिक क्रूरता का दृष्टान्त माना गया है – 'पुत्रहन्त्री सर्पिणी'। कहते हैं कि सर्पिणी असंख्य अण्डों को जन्म देती है, जो आगे चलकर सर्प होनेवाले हैं और इस प्रकार एक-एक सर्पिणी के द्वारा हजारों सर्प संसार में आने चाहिये, पर ऐसा होता नहीं। अब चाहे इसे कवि-कल्पना मान लिया जाय, पर कहते हैं कि उनमें से अधिकांश अण्डों को स्वयं सर्पिणी ही खा जाती है। अब जो माँ अपने ही बच्चों को खा जाय, भला उससे अधिक क्रूर कौन होगा! क्रूरता की ऐसी सीमा कि जिसके हृदय में पुत्र के प्रति भी वात्सल्य न होकर क्रूरता है, जिसकी भूख इतनी प्रबल है कि अपने बच्चों को भी खा ले! सूर्पणखा की वासना कितनी भूखी है और वह अपनी भूख मिटाने के लिये किस सीमा तक जा सकती है, इसका परिचय देने के लिये गोस्वामीजी उसे सर्पिणी की उपाधि देते हैं।

फिर 'अनन्य' शब्द यहाँ आता है। चातक अनन्य है। और इसका अर्थ है कि चातक की दृष्टि स्वाति नक्षत्र के जल को छोड़कर और कहीं है ही नहीं। और प्रारम्भ गोस्वामी जी ने यहीं से किया। सूर्पणखा एक बार पंचवटी में गई और वहाँ दोनों राजकुमारों को देखकर विकल हो गई –

**पंचबटी सो गइ एक बारा।**
**देखि विकल भई जुगल कुमारा।। ३/१७/४**

यह विकलता वासनायुक्त अन्तःकरण का प्रतीक है। मानो प्रारम्भ में ही उसके अन्तःकरण में वासना की वृत्ति है। जहाँ अन्य न हो, वह अनन्यता है। पर यहाँ दोनों ही सुन्दर हैं, दोनों में से कोई भी मिल जाय, तो ठीक है। देहनगर लंका से आई सूर्पणखा को राम की सुन्दरता देखकर भी उसमें अनन्यता का भाव नहीं आता। उसके लिये कोई अन्तर नहीं। श्रीराम ब्रह्म हैं और लक्ष्मण जीव, पर कोई भी हो, उसके लिये सब समान हैं। वह दोनों को देखकर विकल हो जाती है और सोचती है कि इन राजकुमारों को कैसे सम्मोहित किया जाय? प्रभु कहते हैं – मुझे पाना तो सरल है। क्योंकि इसके लिये व्यक्ति को कुछ नहीं करना है – निर्मल मनवाला मुझे प्रिय है। मुझे कपट, छल, छिद्र अच्छा नहीं लगता –

**निर्मल मन जन सो मोहि पावा –**
**मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। ५/४४/५**

सूर्पणखा तो सहज रूप से जाकर श्रीराम के समक्ष यह प्रस्ताव कर सकती थी कि मैं आपके सौन्दर्य को देखकर सम्मोहित हूँ, आपसे विवाह करना चाहती हूँ। यदि वह ऐसा कहती, तो उसमें कोई अनौचित्य भी नहीं था, क्योंकि प्राचीन काल में बहु-विवाह की परम्परा थी और ऐसा कहने पर उसे कोई दोष नहीं दिया जा सकता था।

फिर रावण के बहन कहने का यह भी तात्पर्य है कि रावण सीताजी को पाना चाहता है और सूर्पणखा राम को पाना चाहती है। पर दोनों की वृत्ति क्या है? रावण सीताजी को स्वयं नकली साधु बनकर कपट-मृग की सहायता से पाना चाहता है और सूर्पणखा भी कपटी वेश के द्वारा राम को पाना चाहती है। जिसे पाने के लिये जिसका त्याग सबसे पहले करना चाहिये, वे दोनों उसी के माध्यम से उसे पाना चाहते हैं। वह अपने को सजाकर सुन्दर बनाती है, आकर्षक बनाती है और श्रीराम के सामने जाकर खड़ी हो जाती है –

**रुचिर रूप धरि प्रभु पहिं जाई। ३/१७/७**

भोजन बड़ा स्वादिष्ट हो, रुचिकर हो, पर उसमें थोड़ी-सी भाँग या कोई उससे भी अधिक भयानक विष मिला दी जाय, तो उस स्वादिष्ट भोजन को खा लेने के बाद व्यक्ति की दशा क्या होगी? सूर्पणखा ने सुन लिया होगा कि श्रीराम को रुचिर बड़ा प्रिय है। तो ठीक है कि वह रुचिर रूप बनाकर आयी, पर वह वासना का नशा लेकर प्रभु के समक्ष आयी और प्रभु को आकर्षित करने के लिये मुस्कुराती है –

**बोली बचन बहुत मुसकाई ।। ३/१७/७**

ईश्वर के सामने रोते हुये, तो बहुत लोग आते हैं, जो हँसते हुए आती है, वह सूर्पणखा ही है। भगवान के सामने अपनी दीनता की ओर दृष्टि चली जाती है, आँखों में आँसू आ जाते हैं, व्यक्ति कहता है – मैं तो आपके सामने आने के योग्य नहीं हूँ, कैसे आऊँ? भक्त कहता है कि आपके समान कोई पतित-पावन नहीं और मेरे समान कोई पतित नहीं। पर सूर्पणखा में ऐसा कोई दैन्य नहीं है। खूब मुस्कुरा रही है। भगवान को पाने का नया ढंग ! फिर सूर्पणखा ने श्रीराम की स्तुति में क्या कहा – विश्व में न तो कोई तुम्हारे जैसा पुरुष है और न मेरी जैसी नारी है और विधाता ने यह संयोग बड़ा सोच-समझकर बैठाया है –

**तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी ।**
**यह सँजोग बिधि रचा बिचारी ।। ३/१७/८**

विदेहनगर में भी कहा गया कि ब्रह्मा ने सीताजी के लिये श्रीराम का निर्माण किया है और देहनगर की वासिनी सूर्पणखा ने कहा – ब्रह्मा ने तुम्हारा निर्माण मेरे लिये किया है, पर मैं व्यर्थ ही तीनों लोकों में अपने योग्य पति ढूँढ़ रही थी –

**मम अनुरूप पुरुष जग माहीं ।**
**देखेउँ खोजि लोक तिहु नाहीं ।। ३/१७/९**

वह भूल गई कि मैं क्या कह रही हूँ। तीनों लोकों में जो जा सकती है, वह कोई साधारण नारी नहीं हो सकती। फिर कहती है – मेरे योग्य कोई पुरुष नहीं मिला, इसलिये आज तक मैंने विवाह नहीं किया, अब तक कुँवारी हूँ।

श्रीराम तो बोल ही नहीं रहे हैं। जिसकी सूर्पणखा जैसी वृत्ति होती है, उसकी योजना भी बड़ी दूरगामी होती है। उसने निश्चित मान लिया था कि मैं लंकेश्वर की बहन हूँ, सुन्दर रूप में सामने हूँ, अत: विवाह तो ये कर ही लेंगे। पर उसके मन में चिन्ता हुई कि विवाह के बाद झगड़ा भी तो जरूर होगा। जहाँ वासना है, वहाँ झगड़ा तो होगा ही। और जब झगड़ा होगा, तो यह राजकुमार पूछेगा – तुम मेरे पास आई थी या मैं तुम्हारे पास गया था? मुझे ताना देगा। क्यों न अभी से मैं उसकी जड़ काट दूँ। इसलिये उसने स्पष्ट कर दिया कि अपने बारे में तुम कोई भ्रम न पाल लेना, मैंने ढूँढ़कर देख लिया है कि मेरे योग्य कोई पुरुष नहीं है, इसलिये सोचा चलो, तुम्हीं से काम चला लेंगे –

**तातें अब लगि रहेउँ कुमारी ।**
**मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ।। ३/१७/१०**

लोग कहते हैं कि मेरा पूरा मन भगवान को अर्पित है। पर सूर्पणखा स्पष्ट कर देती है – तुम मेरे योग्य तो नहीं हो, पर तुमसे अच्छा कोई और नहीं मिला, इसलिये तुम्हीं को स्वीकार कर लेती हूँ। जो इस वृत्ति के साथ सुन्दरता की प्रशंसा करे और जहाँ अनन्यता के स्थान पर 'युगल-कुमारों' के प्रति आकर्षण हो और जो श्रीराम के लिये भी कह दे – तुम्हें देखकर मन थोड़ा-सा मान गया है, तो वासना की दृष्टि में सदा ऐसा ही होता है। जितने भी भौतिक देहवादी सौन्दर्य के प्रसंशक हैं, उनका मन तो जितना भी होगा, उसे थोड़ा ही मानेगा। कहेगा – चलो, सुन्दरता तो है, पर साथ ही उसे सदा यही लगता रहता है कि सुन्दरता यहीं समाप्त नहीं हो गई। यही वासना है, जो समर्पण के विरुद्ध है। जब वह श्रीराम से विवाह का प्रस्ताव करती है, तो देहनगर की उस सुन्दरता को श्रीराम ने आँखें उठाकर देखा भी नहीं। –किसे देखा? – सीता की ओर। एक ओर देहनगर की नकली सुन्दरता और दूसरी ओर वैदेही। श्रीराम ने देही नहीं, वैदेही की ओर देखकर बातें कहीं –

**सीतहि चितइ कही प्रभु बाता । ३/१७/११**

मानो सब कुछ कह दिया। यदि वह उसका अभिप्राय समझ पाती कि इस सौन्दर्य को देखने के बाद अब भला क्या देखा जा सकता है ! संकेत मानो यह भी है कि जब तुमने यह दावा किया कि मेरे समान कोई सुन्दरी नहीं है, तो इनको देखने के बाद कहा या बिना देखे ही कह दिया। यह जो विदेह नगर की सुन्दरता है, उसके लिये श्रीराम ने कहा – यह सुन्दरता को भी सुन्दर बनाने वाली है –

**सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई । १/२३०/७**

और सूर्पणखा यहाँ अपने को कुँवारी कह रही है। कुँवारी का अर्थ होता है – जिसका विवाह न हुआ हो। वह कुँवारी नहीं, विधवा थी। उसका विवाह विद्युद्जीह्व नामक राक्षस से हुआ था। रावण ने विवाह तो बड़े उत्साह के साथ किया और विद्युद्जीह्व ने मान लिया कि हम तो रावण के बहनोई हैं, बड़े ऊँचे हैं, अत: उसने कभी रावण के सामने मुँह खोल दिया या कोई बराबरी का दावा दिखाने की चेष्टा की। अगले ही क्षण रावण की तलवार चमकी और विद्युद्जीह्व का सिर कटकर गिर पड़ा। सूर्पणखा विधवा हो गई, पर विधवा होने से सूर्पणखा को कोई दुख नहीं हुआ, क्योंकि रावण ने उसे खुली छूट दे दी – तुमसे हमें किसी मर्यादा की अपेक्षा नहीं है। तुम अपनी विषय-तृप्ति के लिये स्वतंत्र हो।

सूर्पणखा की बात पर भगवान राम ने अगला वाक्य कहा – मेरा छोटा भाई कुमार है –

**अहइ कुमार मोर लघु भ्राता । ३/१७/११**

बेचारे सत्यवादी लोग तो बड़े संकट में पड़ जाते हैं – श्रीराम इतने बड़े सत्यवादी और साफ झूठ बोल गये ! जो लोग कविता नहीं जानते, वे तो कवि की बातों के आधार पर कहेंगे कि कवि झूठे होते हैं। पर वस्तुत: कवि जो कहता है, वह असत्य नहीं है और उसमें काव्य का आनन्द भी है। मानो श्रीराम ने साहित्य के आनन्दमय पक्ष की अभिव्यक्ति के लिये व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग किया। आप भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जाइये, तो एक प्रान्त की भाषा में जो शब्द बड़े सम्मान का है, दूसरी जगह वही अपमानार्थक है। एक भाषा में एक शब्द अच्छा माना जाता है, दूसरे में वही बुरा माना जाता है। ऐसे अनेक शब्द हैं। मराठी भाषा में 'राजीनामा' त्यागपत्र को कहते हैं और हिन्दी-उर्दू में राजीनामा झगड़े में समझौते को कहते हैं। मुझे यह अनुभव पहली बार महाराष्ट्र में हुआ। वहाँ मराठी का अखबार आया, तो उसमें किसी मंत्री का नाम लेकर लिखा हुआ था कि उन्होंने राजीनामा दे दिया। मैंने समझा कि किसी से कोई झगड़ा रहा होगा, समझौता हो गया। थोड़ी देर बाद हिन्दी का अखबार आया, उसमें लिखा था कि मंत्री ने त्यागपत्र दे दिया। तब समझ में आया कि मराठी में राजीनामा त्यागपत्र को कहते हैं।

सूर्पणखा ने कहा – मैं कुमारी हूँ, तो प्रभु ने साहित्यिक व्यंग्य का प्रयोग करते हुये कहा कि लंका में यदि कुमारी की यही परिभाषा है, तो हमारा यह भाई भी कुमार ही है। तो उधर वासना-कुमारी और इधर वैराग्य-कुमार।

**सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर।**
**भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर।। २/३२१**

लक्ष्मणजी मूर्तिमान वैराग्य हैं और श्रीराम ने वासना को वैराग्य की ओर प्रेरित किया। कुमार अर्थात् जिसके जीवन में कभी आकर्षण नहीं हुआ, जिसकी दृष्टि कहीं नहीं जाती, वही सही अर्थों में कुमार है। वासना विधवा होते हुये भी स्वयं को कुमारी कहती है। लंका की वासना-कुमारी सूर्पणखा के जीवन में निरन्तर भोग-वृत्ति है। वह कहीं भी अपना सही परिचय नहीं देती। और अयोध्या के जो वैराग्य-कुमार लक्ष्मण हैं, उनकी दृष्टि कभी किसी सौन्दर्य की ओर गयी ही नहीं। उनके हृदय में कभी वासना का उदय ही नहीं हुआ है।

प्रभु का संकेत था – मान लिया कि तुम कुमारी हो, पर मेरे यहाँ जो कुमार है, जरा उसको भी तो देखो। सूर्पणखा की वृत्ति ठीक चातक से उल्टी है। यदि वह अनन्य होती या सावधान होती, तो कहती – मैं तो केवल आपको ही चाहती हूँ, और कहीं नहीं जाऊँगी। पर वह इतनी वासनाग्रस्त है, विकल है कि श्रीराम के कहते ही अविलम्ब सीधे लक्ष्मणजी के पास चली गई। वहाँ जाकर उसने बता दिया – तुम्हारे बड़े भाई ने मुझे भेजा है। उन्होंने बताया है कि वे विवाहित हैं, पर तुम कुमार हो। अब मुझसे विवाह कर लो। उसकी दृष्टि सौन्दर्य के शरीर पक्ष पर है और वह वासना की भूखी होने के नाते कहीं भी तृप्ति पाना चाहती है।

लक्ष्मणजी के लिये तो बड़ा सरल था कि सूर्पणखा से कह देते – मेरा तो विवाह हो चुका है। मेरी पत्नी भी है। पर उन्हें लगा कि जब प्रभु ही इस समय विनोद की मुद्रा में हैं, तो मैं क्यों व्यर्थ में शुष्क बनूँ। मैं इतनी सत्य की भाषा दिखाने की चेष्टा क्यों करूँ। लक्ष्मणजी के चरित्र का यही उज्ज्वलतम पक्ष है। विरागी होना एक बात है और स्वयं को विरागी दिखाना दूसरी बात। विरागी होना साधना की पराकाष्ठा है और स्वयं को विरागी दिखाना दम्भ है। लक्ष्मणजी ने इतना विनोद किया कि लगता नहीं कि ये कोई विरागी हैं, एक बार भी नहीं कहा कि मेरा विवाह हो चुका है। उन्होंने शब्द भी कितना सुन्दर चुना और बोले – हे सुन्दरी, सुनो। यहाँ 'सुनो' में व्यंग्य है। ऐसी मान्यता है कि सर्प के कान नहीं होते। सूर्पणखा तो सर्पिणी है। बिना कानवाले से वे बोले – सुनो। यदि वह सुनती-समझती, तो बदल जाती।

लक्ष्मणजी द्वारा 'सुन्दरी' कहे जाने पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ कि छोटा भाई कुछ साहित्यिक तो लग रहा है, चलो, इसे सुन्दरता की परख तो है। उसने तो एक बार भी सुन्दरी नहीं कहा, इसने कम-से-कम एक बार तो कहा। पर उसे आश्चर्य हो रहा था कि सुन्दरी कहने के बाद भी वह मेरी ओर देख क्यों नहीं रहा है? वे सूर्पणखा का प्रश्न समझ गये और मन-ही-मन बोले – जब तक देख नहीं रहा हूँ, तभी तक सुन्दरी हो। देखूँगा, तो सुन्दरी नहीं रहोगी। वैराग्य जब दृष्टि डालेगा, तो वासना की कुरूपता ही सामने होगी। उसमें सौन्दर्य कहाँ दिखाई देगा? और यद्यपि मैं कुमार हूँ, पर मैं तो उनका दास हूँ, पराधीन हूँ –

**सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।**
**पराधीन नहिं तोर सुपासा।। ३/१७/१३**

अपने को 'पराधीन' बताने में उनका व्यंग्य मानो यह था कि जानता हूँ, तुम उच्छृंखल हो, तुम्हें स्वच्छन्दता चाहिये। और जब अपने को राम का दास कहा, तो मानो व्यंग्य यह था कि सचमुच तुम्हें पति नहीं दास चाहिये, जो सदा तुम्हारी बात मान कर चले। पर जो राम का दास है, वह काम का दास हो ही नहीं सकता। यह आशा तो तुम छोड़ दो। जब तुम एक दास की पत्नी बनोगी, तो तुम्हें भी पराधीन रहना पड़ेगा। क्या तुम पराधीन रहना चाहोगी? मेरे साथ विवाह करके तुम्हारा जीवन सुखद नहीं रहेगा।

उन्होंने सूर्पणखा को सुझाव देते हुए कहा – तुम फिर से वहीं जाओ। – कैसे जाऊँ? तो वे शब्द चुनकर बोले – वे 'प्रभु' हैं, 'समर्थ' हैं। – पर यदि प्रभु और समर्थ होते तो मुझसे विवाह न कर लेते? – फिर से जाओ, देखो तो सही। – क्या? बोले – "कोसलपुर राजा – वे अयोध्या के राजा

हैं। केवल लंका में ही नहीं, अयोध्या में भी बहु-विवाह की प्रथा है। वे अयोध्या के राजा हैं, एक विवाह और कर लेंगे।'' इसमें कटाक्ष था, पर अन्तरंग अर्थ यह था कि जीव की शरणागति से, जीव से सम्बन्ध जोड़कर व्यक्ति सुखी नहीं हो सकता। जीव स्वयं परतंत्र है और जो परतंत्र के वशीभूत होकर रहेगा, वह तो और भी परतंत्र हो जायेगा। ऐसी स्थिति में एकमात्र ईश्वर ही सर्व-समर्थ हैं, अगणित जीवों को स्वीकार करने में समर्थ हैं। ईश्वर सबके स्वामी हैं और उनके लिये प्रश्न नहीं है कि उन्होंने एक को स्वीकार कर लिया है, तो अब दूसरे को कैसे स्वीकार करेंगे! मानो वैराग्य ने सूर्पणखा को शरणागति का मूलमंत्र बता दिया। बता दिया कि प्रभु ईश्वर हैं, सर्वसमर्थ हैं और वे समस्त आनन्दमय कौशल के स्वामी हैं और उनके शरण में व्यक्ति को जाना ही चाहिये। यदि वह लक्ष्मणजी की भाषा समझ पाती, तो उसका मोह नष्ट हो जाता। पर वह समझ नहीं पाती कि ईश्वर को पाने की इच्छा कोई पाप नहीं है। और प्रभु तो सबको स्वीकार कर लेते हैं, पर तुम शरण तो लो। उनके सामर्थ्य और महिमा को तो पहचानो। भगवान स्वयं ही कहते हैं कि चाहे कोई कितना भी बड़ा पापी हो, शरण में आने पर उसे अस्वीकार नहीं करता –

**कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू।**
**आयें सरन तजउँ नहिं ताहू।।**
**सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।**
**जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।। ५/४४/१-२**

पर वह केवल बाह्य अर्थ लेती है। चलो, फिर से चलती हूँ, अयोध्या में भी तो बहुविवाह की प्रथा है। यही जो वृत्ति है – यहाँ से वहाँ, वहाँ से यहाँ। जब वह फिर भगवान के पास गई, तो उन्होंने फिर कहा – तुम समझ नहीं पाई, वह कुमार है, तुम पुन: उसके पास जाकर प्रस्ताव करो। वह निर्लज्जतापूर्वक पुन: लक्ष्मणजी के पास गई। उन्होंने जब फिर प्रभु के पास जाने को कहा, तब श्रीराम के पास जाते ही उसने अपना भंयकर रूप प्रकट कर दिया –

**तब खिसिआनि राम पहिं गई।**
**रूप भयंकर प्रगटत भई।। ३/१७/१९**

उसे लगा कि यह राजकुमार यदि मेरी ओर दृष्टि उठाकर नहीं देखता, तो उसमें कारण इसकी सुन्दरी पत्नी है। यदि मैं इसकी पत्नी को ही खा लूँ, तो यह स्वाभाविक रूप से मुझसे विवाह कर लेगा और इसीलिये वह अपने खिसियाने रूप को, उस भयंकर रूप को प्रकट करके सीताजी की ओर देखती है। सीताजी उसे देखकर डर गईं। सूर्पणखा आक्रमण करने वाली है। और तब प्रभु ने वहीं से इशारा कर दिया –

**सीतहि सभय देखि रघुराई।**
**कहा अनुज सन सयन बुझाई।। ३/१७/२०**

प्रभु बोले – 'श्रुति और आकाश में' और ऊँगली घुमाई। मानो प्रभु का तात्पर्य था, कि यह श्रुति-मार्ग का विरोध कर रही है, इसलिये इसका खण्डन करने के लिये तुम इसे दण्डित करो। जो तुम्हारी बात ही न सुन सके, ऐसे कान किस काम के। तुम्हारी बात सुनकर भी जिसके स्वभाव से अभिमान न छूटा, मानो इसका कार्य स्वर्ग के विरुद्ध है, इसलिये इसकी नाक को काट कर बता दो कि वस्तुत: इसका कार्य श्रुति-विरुद्ध है, स्वर्ग-विरुद्ध है –

**वेद न मानि अंगुरी खंडि अकास। (बरवै रामायण)**

और लक्ष्मणजी के लिये तो कोई प्रश्न ही नहीं था। प्रभु के विनोद-में-विनोद और अगले ही क्षण प्रभु ने क्या किया? प्रभु का संकेत मिलते ही – उसके नाक-कान काट लिये –

**लछिमन अति लाघवँ सो**
**नाक कान बिनु कीन्हि।। ३/१७**

आजकल लोग बड़े बुद्धिमान हो गये हैं। कहते हैं कि श्रीराम ने सूर्पणखा का बड़ा अपमान किया। मानो सूर्पणखा सीताजी को खा लेती और खाने देते तो राम सभ्य पुरुष होते और उन्होंने यदि सीताजी को खा जाने की चेष्टा करनेवाली राक्षसी का नाक-कान कटवा लिया, तो अनुचित किया? एक ने तो और आगे बढ़कर लिखा कि राम को राजनीति का सही ज्ञान ही नहीं था। यदि होता तो सूर्पणखा से विवाह अवश्य कर लेते। वह उस समय की परम्परा के अनुकूल था, इसमें दो राष्ट्रों में बड़ा मधुर सम्बन्ध बन जाता। जब किसी का ऐसा चिन्तन हो, तो उन्हें कैसे समझाया जाय!

लक्ष्मण द्वारा सूर्पणखा के नाक-कान काटने का क्या उद्देश्य था? यह श्रीराम की ओर से रावण को चुनौती थी –

**ताके कर रावण कहँ मनहु चुनौती दीन्हि।।**

देहनगर और विदेह-नगर में, देहनगर की वह मोह और वासनामयी प्रवृत्ति, जो अपने भोग के लिये, कामना की पूर्ति के लिये दूसरों को खा जाने में, दूसरों को कष्ट देने में, रंच मात्र संकोच का अनुभव नहीं करती। श्रीराम उस वृत्ति का, उस व्यक्ति का विनाश करने आये हैं। वे रावण को चुनौती देते हैं और इस तरह गोस्वामीजी फिर उसे दार्शनिक रूप देते हैं। सूर्पणखा जाती है। खर-दूषण और त्रिसिरा उसे देखकर आश्चर्यचकित हो गये। हमारी बहन का इतना अपमान? सुनकर बदला लेने के लिये चल पड़े। साथ में थी चौदह हजार राक्षसों की सेना। श्रीराम ने जब आते देखा। धूल उड़ रही थी। प्रभु ने कहा – लक्ष्मण, तुम सीताजी को यहाँ से दूर किसी पर्वत की कन्दरा में ले जाओ और जब तक युद्ध समाप्त न हो जाय, वही बैठाओ और सजग भाव से उनकी रक्षा करो। इसका सांकेतिक अर्थ है। लक्ष्मणजी का वहाँ रहना युक्तिसंगत भी होता। युद्ध में एक के स्थान पर दो होते। लेकिन भगवान श्रीराम कहते हैं –

**लै जानकिहि जाहु गिरि कन्दर ।**
**आवा निसिचर कटकु भंयकर ।। ३/१८/११**

श्रीराम जानते हैं कि एक देहनगर की वासिनी आई और वह सीताजी को नहीं देख पाई, मुझे नहीं देख पाई। और ये देहनगर के वासी आ रहे हैं, वैदेही को क्यों देखेंगे। वासना की दृष्टिवालों को वैदेही को देखने का अधिकार ही नहीं है। अत: ले जाओ। श्रीराम सीताजी को उनके सामने आने ही नहीं देते। भक्तिदेवी को वैराग्य की सुरक्षा में रख देते हैं।

और अगले ही क्षण श्रीराम की सुन्दरता का जादू चल गया। चौदह हजार राक्षस ज्योंही आक्रमण करने चले, प्रभु की सुन्दरता को देख सबके हाथों के अस्त्र-शस्त्र जहाँ-के-तहाँ रुक गये। सब एकटक उनकी सुन्दरता देखने लगे। आश्चर्य हुआ – सेना आक्रमण क्यों नहीं कर रही है। तीनों भाई आगे आ गये और तीनों ने जब राम की सुन्दरता को देखा, तो इतने सम्मोहित हो गये कि लगा – इतनी लड़ाइयाँ हमने जीती, न जाने कितने योद्धाओं का सिर काटा, पर ऐसी सुन्दरता तो कभी दिखी नहीं। यद्यपि इन्होंने मेरी बहन का नाक-कान काट लिया है, पर ये वध के योग्य नहीं लगते –

**जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा ।**
**बध लायक नहिं पुरुष अनूपा ।। ३/१९/५**

सौन्दर्य के प्रति इनके मन में पूजा का भाव है। पर उनके वासना का कलुष जो है, वह प्रगट हो जाता है। मंत्रियों से प्रस्ताव भेजा जाता है – "हम राजकुमार को नहीं मारना चाहते। जिस पत्नी को आपने छिपाकर रख लिया है, उसे मुझे दे दें और दोनों भाई जीवित अपने घर लौट जायँ।"

सूर्पणखा से सीताजी का वर्णन वे सुन चुके थे। उन्हें लगा कि जब ये इतने सुन्दर हैं, तो इनकी पत्नी कितनी सुन्दरी होगी। यह वासना की भाषा है, कलुष है। न तो रावण अपनी बहन के अपमान का बदला लेने के लिये उतना व्यग्र है, जितना सीताजी के सौन्दर्य को पाने के लिये है, न खर-दूषण-त्रिसिरा के मन में ही सूर्पणखा के अपमान के बदले की उतनी तीव्र भावना है, जितना इस अवसर का लाभ उठाकर सीताजी के सौन्दर्य को पा लेना है।

मंत्रियों ने जाकर जब कहा तो प्रभु मुस्कुराने लगे, बोले – तुम जानते हो कि हम क्षत्रिय हैं। तुम यह भी देख रहे हो कि हमारे पास धनुष-बाण है और हम शिकार खेलने आये हुये हैं। और यह भी बता दूँ कि अन्य क्षत्रिय जिन मृगों का शिकार करते हैं, हम वैसे शिकारी नहीं हैं, हमने तो तुम जैसे दुष्ट मृगों का वध करने के लिये ही धनुष-बाण उठाया है –

**हम छत्री मृगया बन करहीं ।**
**तुम्ह से खल मृग खोजत फिरहीं ।। ३/१९/९**

वहाँ पर एक अन्तिम सूत्र गोस्वामीजी ने दे दिया। राक्षस मर नहीं रहे हैं। अस्त्र-शस्त्र का प्रभाव नहीं पड़ रहा है। आकाश में देवता आश्चर्यचकित हैं, इनको तो वरदान है कि हम मरेंगे तो केवल आपस में लड़कर मरेंगे, अन्य किसी के मारने से नहीं मरेंगे। और यह मानकर वरदान माँगा था कि हममें परस्पर इतना प्रेम है। हम आपस में लड़ेंगे ही क्यों? ब्रह्माजी भले ही अमर न बनायें, हम तो अमर हो जायेंगे। प्रभु मुस्कराने लगे। देवता सोचने लगे, अकेले श्रीराम और चौदह हजार राक्षस ! क्या होगा? मायानाथ श्रीराम ने एक खेल किया। सब राक्षसों को राम बना दिया। अब इससे बढ़कर श्रीराम और क्या दे सकते हैं? श्रीराम गिद्ध पर प्रसन्न हुए, तो उन्हें सारूप्य मुक्ति दे दिया। भक्तों को भगवान अपना रूप दे देते हैं। और वही सारूप्य इन राक्षसों को जीते-जी मिल गया। पर गोस्वामीजी ने कहा – ईश्वर तो सर्वत्र हैं, सबके हृदय में हैं और मुक्ति भी सत्य है, कोई बन्धन है ही नहीं। अब यह एक दार्शनिक प्रसंग है, जिसमें बन्धन है ही नहीं। जड़ माया क्या ईश्वर के अंशरूप चेतन जीव को बाँधने में समर्थ हो सकती है? पर एक बड़ी अनोखी बात कही गयी – जड़ ने चेतन को बाँध लिया –

**जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई ।**
**जदपि मृषा छूटत कठिनई ।। ७/११७/४**

जड़ में बाँधने की शक्ति कहाँ है? कैसे बाँधा होगा? बोले – बाँधा-वाँधा कुछ नहीं, बाँधने का भ्रम हो गया। यह वेदान्त का एक गम्भीर प्रसंग है। मानो भगवान यह बताना चाहते हैं कि भले ही मैं अपना सारूप्य दे दूँ, सबके हृदय में निवास करता हूँ, पर उसको देखने की दृष्टि यदि नहीं है, तो व्यक्ति मरेगा, मुक्ति का सुख कहाँ पायेगा? जब श्रीराम ने सबको राम बना दिया, तो हर राक्षस देखता है कि अरे, राम तो मेरे सामने आ गया, मारो इसको। विचित्र बात यह है कि जब वह सामनेवाले को देखता है कि यह राम है, यदि वह अपनी ओर देखता तो वह भी राम था। तो हम भी राम, तुम भी राम, तो लड़ाई कैसी? पर वह तो केवल सामनेवाले को देखता है कि यह राम है, मेरा शत्रु है, इसे मार डालो। जिन राम के दर्शन से व्यक्ति धन्य हो जाता है, जिन श्रीराम के दर्शन से सारी दुर्वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं, उन्हीं राम का दर्शन करके वे लोग आपस में ही लड़कर मर गये –

**सुर मुनि सभय प्रभु देखि**
**मायानाथ अति कौतुक कर्‌यो ।**
**देखहिं परसपर राम करि**
**संग्राम रिपुदल लरि मर्‌यो ।। ३/२०/छं**

वे इसलिये लड़ मरे कि उनमें राम को देखने की दृष्टि नहीं है। वे विदेहनगर के नहीं, देहनगर के थे। इसलिये श्रीराम की सुन्दरता तो अद्वितीय है ही, पर उसे देखने के लिये जो चातक-दृष्टि चाहिये, वही पाना है।

❖ (क्रमश:) ❖

# श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। जनवरी २००४ से आरम्भ करके जून २००५ अंक तक और तदुपरान्त अप्रैल २००६ अंक से ये लगातार प्रकाशित हो रही हैं – सं.)

## भक्ति का मार्ग

### – १०५ –

### प्रेम ही सर्वोत्तम चढ़ावा है

बड़े आदमी का दरवान उनके घर में आकर एक ओर खड़ा है। उसके हाथ में कोई चीज है – कपड़े से ढँकी हुई। वह बड़े संकोचपूर्वक खड़ा है। बाबू ने पूछा – "क्यों दरवान, तुम्हारे हाथ में क्या है?" दरवान ने संकोच के साथ उस कपड़े में से एक शरीफा निकालकर बाबू के सामने रखा – उसकी इच्छा थी कि बाबू उसे खायँ। दरवान का भक्ति-भाव देखकर बाबू ने बड़े प्रेम के साथ वह शरीफा ले लिया और बोले – "वाह! बड़ा अच्छा शरीफा है। तुम कहाँ से इसे इतना कष्ट करके लाये!"

भगवान भी इसी तरह भक्त के हृदय का भाव देखते हैं। भक्ति-भाव से अर्पित की हुई छोटी-सी चीज भी वे बड़े प्रेम के साथ स्वीकार करते हैं।

### – १०६ –

### पुरस्कार किसे मिले?

माता भगवती के पास कार्तिकेय और गणेश बैठे हुए थे। उनके गले में मणियों की माला पड़ी थी। माता ने कहा – "जो पहले इस ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके आ जायेगा, उसी को मैं यह माला दे दूँगी।" कार्तिक तत्काल ही अपने मोर पर चढ़कर चल दिये। गणेश ने धीरे-धीरे माता की परिक्रमा करने के बाद उन्हें प्रणाम किया। गणेश जानते थे कि माता के भीतर ही ब्रह्माण्ड है। माँ ने प्रसन्न होकर गणेश को हार पहना दिया। बड़ी देर बाद कार्तिक ने आकर देखा कि उनके भाई हार पहने हुए बैठे थे।

भक्ति के द्वारा सब कुछ मिलता है। उनसे प्रेम करने पर किसी भी चीज का अभाव नहीं रह जाता।

### – १०७ –

### महान् भक्त कौआ

राम और लक्ष्मण जब पम्पा सरोवर गये, तब लक्ष्मण ने वहाँ देखा – एक कौआ व्याकुल होकर बार-बार पानी पीने के लिए जा रहा था, परन्तु पीता न था। राम से पूछने पर उन्होंने कहा – "भाई, यह कौआ परम भक्त है। यह दिन-रात राम-नाम जप रहा है। इधर मारे प्यास के छाती फटी जा रही है, परन्तु पानी पी नहीं सकता। सोचता है, पानी पीने लगूँगा, तो जप छूट जायेगा।"

### – १०८ –

### बाघ और तीन मित्र

तीन मित्र जंगल से होकर जा रहे थे, सहसा एक बाघ उनके सामने आ खड़ा हुआ! एक मित्र बोला – "भाई, आज तो हम सब मरे।" दूसरा मित्र बोला – "क्यों, मरेंगे क्यों? आओ, ईश्वर का स्मरण करें।" तीसरा बोला – "नहीं भाई, ईश्वर को भला क्यों कष्ट देना? चलो, इस पेड़ पर चढ़कर बैठ जायें।"

जिस व्यक्ति ने कहा था – 'हम सब मरे' – वह नहीं जानता था कि ईश्वर रक्षा करनेवाले हैं। जिसने कहा था – 'आओ, ईश्वर का स्मरण करें' – वह ज्ञानी था, वह जानता था कि ईश्वर सृष्टि, स्थिति और प्रलय के मूल कारण हैं। और जिसने कहा – 'ईश्वर को भला क्यों कष्ट देना? चलो, इस पेड़ पर चढ़कर बैठ जायें' – उसके भीतर प्रेम उत्पन्न हुआ था – स्नेह-ममता का भाव आया था। प्रेम का स्वभाव ही है कि प्रेमी अपने को बड़ा समझता है और प्रेमास्पद को छोटा। वह देखता है कि प्रेमपात्र को कहीं कोई कष्ट न हो। उसकी यही इच्छा होती है कि जिससे प्रेम करें, उसके पैर में एक काँटा तक न चुभे।

### – १०९ –

### इष्ट के प्रति अनन्य भक्ति

पाण्डवों ने राजसूय यज्ञ किया। युधिष्ठिर को सिंहासन पर बिठाकर सब देशों के राजा उन्हें प्रणाम करने लगे। पर विभीषण बोले – "मैं तो किसी दूसरे को नहीं, केवल नारायण को ही प्रणाम करता हूँ!" यह सुनकर भगवान श्रीकृष्ण ने स्वयं ही झुककर युधिष्ठिर को प्रणाम किया। तब विभीषण ने भी राजमुकुट धारण किए हुए ही युधिष्ठिर को साष्टांग प्रणाम किया।

ऐसी होती है इष्ट के प्रति अटल और अनन्य निष्ठा!

## – ११० –

## राम का महान् भक्त – रावण

मन्दोदरी ने अपने पति रावण से कहा था – "यदि तुम्हें सीता को रानी बनाने की इतनी चाह है, तो तुम एक बार अपनी माया की सहायता से राम का रूप धारण कर उसके सामने क्यों नहीं जाते?" तब रावण ने कहा – "छी ! राम-रूप का चिन्तन करते ही हृदय में ऐसे अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है कि उसके आगे ब्रह्म-पद भी तुच्छ जान पड़ता है, फिर पराई स्त्री की तो बात ही क्या?"

## – १११ –

## यशोदा की मनोकामना

एक बार गोपाल का कुछ समाचार न मिलने के कारण यशोदा राधिका के पास आकर बोलीं – "बेटी, क्या तू मेरे गोपाल की कोई खबर जानती है?"

राधा उस समय भावमग्न थीं, अत: यशोदा की बात को वे न सुन सकीं। बाद में भावसमाधि भंग होने पर अपने सामने नन्दरानी यशोदा को बैठी देखकर उन्होंने उन्हें प्रणाम करके पूछा – "माँ, तुम यहाँ क्यों आई हो?"

यशोदा ने अपने आने का कारण बताया। राधा बोलीं – "माँ, तुम आँखें मूँदकर गोपाल के रूप का ध्यान करो। ऐसा करते ही तुम उन्हें देख पाओगी।" यशोदा के आँखें मूँदते ही महाभावमयी राधिका ने उन्हें भाव में निमग्न कर दिया और यशोदा को भावावस्था में गोपाल के दर्शन हुए। इसके बाद यशोदा ने राधिका से वर माँगा – "बेटी, मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए। मुझे तू यही वर दे कि मैं आँखें मूँदते ही गोपाल के दर्शन पाऊँ। सदा कृष्ण-भक्तों का संग मिलता रहे, भक्तों की सेवा और उनके नाम-गुणों का कीर्तन करूँ।"

## – ११२ –

## ईश्वर-प्राप्ति ही परम लाभ है

सीता का उद्धार हो जाने पर विभीषण को राज्य करना पसन्द न आया। उन्होंने लंका का राजा होने से मना कर दिया था, बोले – "हे राम, जब मैं तुम्हीं को पा गया, तो अब राज्य से क्या काम?" भगवान ने कहा – "विभीषण, तुम ठीक कहते हो, लेकिन अज्ञानियों की शिक्षा के लिए राजा बनो। नहीं तो वे कहेंगे, विभीषण ने राम की सेवा की, परन्तु क्या पाया? राज्य देखकर उन्हें भी सन्तोष होगा।"

## – ११३ –

## श्रीकृष्ण की जय हो

मथुरबाबू के साथ मैं एक जगह गया था। अनेक पण्डित मेरे साथ विचार करने के लिए आये थे। और मैं तो अपढ़ ठहरा। पण्डितों ने मेरी अवस्था देखी और बातचीत होने पर उन लोगों ने कहा – "महाराज ! हमने जो कुछ पढ़ा है, तुम्हारे साथ बातचीत करने पर अब उस सारी विद्या से जी हट गया। अब समझ में आया, उनकी कृपा होने पर ज्ञान का अभाव नहीं रह जाता। अपढ़ भी विद्वान् हो जाता है, मूक में भी बोलने की शक्ति आ जाती है।" इसीलिए कहता हूँ कि पुस्तकें पढ़ने से ही कोई विद्वान् नहीं हो जाता।

उनकी कृपा होने पर फिर ज्ञान की कमी नहीं रह जाती। देखो न, मैं तो मूर्ख हूँ, कुछ भी नहीं जानता, परन्तु ये सब बातें कौन कहता है? फिर इस ज्ञान का भण्डार अक्षय है।

उधर (कामारपुकुर में) लोग जब धान नापते हैं, तो 'राम-राम', 'राम-राम' कहते जाते हैं। एक आदमी नापता है और दूसरा आदमी राशि ठेलता जाता है। उसका काम यही है कि जब राशि घट जाय, तब उसे पूरी करता रहे। मैं भी जो बातें कह जाता हूँ, जब वे घटने पर आ जाती हैं, तब माँ अपने अक्षय ज्ञान-भण्डार से राशि पूरी कर देती हैं।

मैं तो अपढ़ हूँ, कुछ जानता ही नहीं, तो यह सब कहता कौन है? ... उन्हीं की जय हो, मैं तो केवल यंत्र मात्र हूँ। राधा जब हजार छेदवाला घट लेकर जा रही थीं, तब उसमें से जरा भी पानी नहीं गिरा। यह देखकर सब लोग उनकी प्रशंसा करते हुए कहने लगे – "ऐसी सती दूसरी न होगी।" तब राधा बोलीं – "तुम लोग मेरी जय क्यों कहते हो? कहो, कृष्ण की जय हो ! मैं तो उनकी दासी मात्र हूँ।"

## – ११४ –

## ईश्वर के लिये सहज भक्ति

दक्षिण भारत में तीर्थयात्रा करते समय चैतन्यदेव ने एक जगह देखा कि एक पण्डित गीतापाठ कर रहा है और पास ही बैठकर सुनते हुए एक अन्य भक्त की आँखों से आँसुओं की धार बही जा रही है। वास्तव में वह भक्त बिलकुल निरक्षर था। वह गीता का कुछ भी नहीं समझ पा रहा था। चैतन्यदेव ने जब उससे रोने का कारण पूछा, तो उसने उत्तर दिया – "महाराज, यह सच है कि मैं गीता का एक अक्षर भी नहीं समझता, पर जब गीता का पाठ चल रहा था तो उस समय मुझे केवल यही दिखाई दे रहा था कि कुरुक्षेत्र के मैदान में रथ पर अर्जुन के सामने भगवान श्रीकृष्ण की मनोहर मूर्ति विराजमान है और वे गीता का उपदेश दे रहे हैं। यह दृश्य देखकर मेरी आँखों से प्रेम और आनन्द के आँसू रोके नहीं रुकते थे।"

❖ **(क्रमशः)** ❖

# नारदीय भक्ति-सूत्र (२)

***स्वामी भूतेशानन्द***

(रामकृष्ण संघ के बारहवें अध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी ने अपने १० वर्षों के जापान-दौरों के दौरान वहाँ के करीब ७५ जापानी भक्तों के लिये अंग्रेजी भाषा में, प्रतिवर्ष एक सप्ताह 'नारद-भक्ति-सूत्र' पर कक्षाएँ ली थीं। उन्हें टेप से लिपिबद्ध और सम्पादित करके अद्वैत आश्रम द्वारा एक सुन्दर ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित किया गया है। वाराणसी के श्री रामकुमार गौड़ ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.)

**अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ।।१।।**

अन्वयार्थ – **अथ** – भक्तिमार्ग को समझने की मानसिक क्षमता प्राप्त करने के पश्चात्, **अतः** क्योंकि वह ईश्वरप्राप्ति रूपी लक्ष्य तक पहुँचने का सरलतम मार्ग है, **भक्तिम्** – भक्ति-मार्ग की **व्याख्यास्यामः** – हम (भक्ति का अर्थ तथा) उसे प्राप्त करने के उपाय की व्याख्या करेंगे।

**अर्थ** – अतः अब हम भक्ति की व्याख्या करेंगे।

ऋषि नारद इस सूत्र के द्वारा ग्रन्थ आरम्भ करते हैं – 'अब हम भक्ति की व्याख्या करेंगे।' वे एक विशिष्ट जन-समुदाय को सम्बोधित कर रहे हैं, जिसे इस व्याख्या की आवश्यकता है। कोई भी शिक्षा उन लोगों को दी जाती है, जो उसे ग्रहण करने और धारण करने में पर्याप्त सक्षम हों। उसे जिस-तिस के सामने नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह उपयोगी नहीं होगी और इतना ही नहीं – अनिच्छुक लोग शिक्षक या आचार्य की हँसी उड़ायेंगे। इसलिये शिक्षा देने के लिये सुयोग्य पात्रों को चुनने की जरूरत होती है। कई सूत्रात्मक ग्रन्थों की शुरुआत प्रायः इसी ढंग से होती है। प्रथम सूत्र में चार बातें समाहित हैं –

**(१) विषय** – शिक्षा की विषय-वस्तु क्या है?

**(२) अधिकारी** – यह शिक्षा किसके लिये उपयोगी है? अथवा कौन इस शिक्षा को ग्रहण करने के योग्य है?

**(३) प्रयोजन** – इस शिक्षा का उद्देश्य या वांछित लक्ष्य क्या है? इसको सीखने और अभ्यास करने से क्या लाभ है?

**(४) सम्बन्ध** – शिक्षा और उसका अनुसरण करके अभिलाषित लक्ष्य के बीच क्या सम्बन्ध है?

ग्रन्थ के अध्ययन के पूर्व इन प्रारम्भिक बिन्दुओं या सम्बन्धों को समझ लेना होगा।

सर्वप्रथम, इसका विषय-वस्तु क्या है? इसका विषय-वस्तु भक्ति है। नारद अगले सूत्र में व्याख्या करेंगे कि भक्ति क्या है। द्वितीयतः यह शिक्षा किसके लिये हैं? जो अधिकारी हैं। नारद यह शिक्षा उनको देने जा रहे हैं, जो इस मार्ग का अनुसरण करने के इच्छुक हैं? यह मात्र कौतूहल या जिज्ञासा रखनेवालों के लिये नहीं है और न बौद्धिक ऊहापोह करनेवालों के लिये ही है। इस शिक्षा के अनुरूप अपना जीवन-गठन करनेवाले लोग ही इसे जानने के योग्य हैं, क्योंकि इस शिक्षा का जीवन में एक विशेष महत्त्व है। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। भक्तिमार्ग के लिये योग्य अधिकारी कौन हैं? कुछ लोग अपने जीवन की वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट नहीं हैं। वे अनुभव करते हैं कि जीवन में कुछ कमी है, पर वे यह नहीं जानते कि वह अभाव या अपूर्णता कैसे दूर की जा सकती है। अर्थात् वे कुछ खोज रहे हैं, पर यह नहीं जानते कि उसे कैसे प्राप्त किया जाय। ऐसे लोगों के लिये यह पुस्तक उपयोगी होगी। तात्पर्य यह कि यदि लोग अपनी वर्तमान स्थिति से सन्तुष्ट हैं, तो उनमें सीखने की कोई इच्छा नहीं रहती और उनके लिये कोई भी शिक्षा बेकार है, इसलिये उन्हें छोड़ दिया गया है। तात्पर्य यह है कि जो इस शिक्षा को समझने में पर्याप्त सक्षम नहीं हैं, वे इससे लाभान्वित नहीं होंगे। जो लोग एक ऐसी मानसिक तैयारी रखते हैं, जो उन्हें इस शिक्षा का अनुसरण करने में सक्षम बनाती है और उसके द्वारा उन्हें लाभ पहुँचाती है – यह चर्चा केवल ऐसे लोगों के लिये ही है।

अतः एक विशिष्ट प्रकार का मानसिक दृष्टिकोण आवश्यक है। भक्ति-मार्ग की शिक्षा पाने में सक्षम होने के लिये जरूरी शर्तें क्या हैं? केवल एक ही शर्त है और वह है – सच्ची कामना, भक्ति की प्राप्ति के लिये उत्कट लालसा। एकमात्र आवश्यक योग्यता है – भक्ति को पाने की चाह। इसके लिये सच्ची व्याकुलता होनी चहिये। साधक को गम्भीरतापूर्वक सोचना होगा कि भक्ति कैसे प्राप्त हो। ऐसे लोगों के लिये ही यह पुस्तक आवश्यक और उपयोगी है।

जो लोग इन्द्रिय-सुख-भोगों में लिप्त रहते हैं, उनके हृदय में स्वाभाविक रूप से भक्ति की चाह नहीं होती। यह भी स्वाभाविक है कि उनमें भगवत्-चर्चा सुनने के लिये भी कोई रुचि नहीं होती। जो भगवान में विश्वास नहीं रखता या जो घोर-नास्तिक है, उसके लिये यह शिक्षा उपयोगी नहीं होगी। गीता में कहा गया है कि यह शिक्षा ऐसे लोगों के लिये नहीं है, जिन्होंने उच्चतर जीवन के लिये किसी प्रकार का कठोर संघर्ष नहीं किया है, आदर्श-प्राप्ति के लिये कोई तपस्या नहीं की है, या जिनका इसके प्रति कोई रुझान नहीं है।[१] इससे स्पष्ट है कि सही प्रकार की योग्यता रखनेवाले लोग ही इस ग्रन्थ का अध्ययन करने के अधिकारी हैं।

एक दूसरी बात भी है। इस शिक्षा के लिये योग्य व्यक्ति के लिये प्रकाण्ड विद्वान् होना आवश्यक नहीं, वह निरक्षर भी हो सकता है। उसके लिये वेदों, शास्त्रों या दर्शन का भी जानकार होना आवश्यक नहीं। भक्ति-मार्ग पर चलने के इच्छुक व्यक्ति के लिये किसी विशिष्ट सामाजिक स्थिति का होना भी जरूरी नहीं है। भक्ति-मार्ग सबके लिये और जीवन की किसी भी स्थिति में रहनेवाले व्यक्ति के लिये है। ऐसी विशिष्टताएँ भक्ति-साधना के लिये न तो किसी को योग्य बनाती है और न ही अयोग्य।

एक बात और है। भक्ति-मार्ग पर चलने के लिये आयु भी कसौटी नहीं है। कुछ लोग अपने पूर्वजन्मों के संस्कारों के कारण बचपन से ही ईश्वर के प्रति एक तरह का आकर्षण बोध करते हैं। प्रह्लाद, स्वयं नारद, शुक आदि कई बालक भक्तों के उज्ज्वल दृष्टान्त मिलते हैं, जो जन्म से ही भगवान के परम भक्त थे। यज्ञ करने के लिये कुछ योग्यताएँ आवश्यक हैं, पर भक्ति-मार्ग के सम्बन्ध में ऐसा कुछ भी नहीं है। इसमें व्यक्ति को बहुत नैतिक होना भी जरूरी नहीं है – बस, एक सामान्य व्यक्ति होना ही पर्याप्त है। इन्द्रिय-सुखों की इच्छा भले ही हो, परन्तु यह इच्छा इतनी प्रबल न हो कि साधक को आध्यात्मिक जीवन की साधना से ही दूर ले जाय। योग्य अधिकारी होने का यही अर्थ है।

भागवत में कहा गया है – भक्तियोगी कौन है? भक्तियोग उन्हीं के लिये उपयोगी है, जो भगवान की लीला में आकर्षण का बोध करते हैं।'' ईश्वर के बारे में सुनकर, जिनकी किसी प्रकार उनमें रुचि जाग्रत हो गई है। ऐसा व्यक्ति न तो इन्द्रिय -सुख-भोगों में अति लिप्त है और न ही प्रबल त्याग-भाव रखता है। मानो वह अभी बीच में है। इसलिये केवल एक ही चीज जरूरी है और वह है – भक्तिपूर्ण जीवन के लिये व्याकुलता। ऐसे लोगों के लिये भक्तियोग उपयोगी है।

इस बात की ओर पहले ही संकेत कर दिया गया है कि इन्द्रिय-सुखों में लिप्त व्यक्ति स्वाभाविक रूप से ही ईश्वर के बारे में सुनना पसन्द नहीं करेगा। यदि वह इतना पवित्र है कि इन्द्रिय-आकर्षणों से पूर्णतया मुक्त है, तो वह ज्ञान-मार्ग जैसे किसी अन्य पथ पर चलने के योग्य हो सकता है। वस्तुत: भक्तियोग में उसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है, परन्तु वह केवल भक्तियोग के लिये ही विशेष रूप से निर्दिष्ट नहीं है, क्योंकि वह अन्य मार्गों पर भी चल सकता है। जब कोई व्यक्ति इतना पवित्र नहीं है कि वह सब प्रकार के आकर्षणों से मुक्त हो सके और अपने मन को परब्रह्म के सर्वोच्च गुणों की खोज में नियोजित कर सके – तो इस प्रकार के व्यक्ति के लिये भक्तियोग उपयोगी होगा।

यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है। यदि किसी व्यक्ति ने वह व्याकुलता प्राप्त कर ली है, तब तो उसे वह भक्ति भी प्राप्त हो गयी है। तो फिर भक्ति पर आगे चर्चा करने की क्या आवश्यकता? परन्तु इसके बावजूद भक्ति पर ऐसी चर्चा आवश्यक है, क्योंकि व्यक्ति की व्याकुलता सही पथ पर चलायी जानी चाहिये, ताकि वह नष्ट न हो जाय। दूसरी बात यह है कि साधक को लक्ष्य के बारे में कोई भ्रान्ति भी नहीं होनी चाहिये। इसलिये साधक को स्पष्ट मार्ग-दर्शन मिलनी चाहिये कि वह आगे कैसे बढ़े, मार्ग में खतरे क्या हैं और लक्ष्य क्या है। इसलिये भक्तियोग का ज्ञान आवश्यक है।

किसी बौद्धिक जिज्ञासा को सन्तुष्ट करना मात्र ही भक्तियोग का लक्ष्य नहीं है। यह ऐसा विषय है जो हमारे जीवन से सम्बन्ध रखता है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि इसे अटकलबाजी के लिये विषय के रूप में, हल्के तौर पर नहीं लेना चाहिये। उदाहरण के लिये, दर्शनशास्त्र का अध्ययन करनेवाले एक दार्शनिक को लीजिये। वह केवल बौद्धिक सन्तुष्टि के लिये ही अध्ययन करता है। उसके जीवन का उस विषय के साथ सम्बन्ध नहीं। किसी व्यक्ति का दर्शन एक प्रकार का हो सकता है और उसका जीवन उससे पूर्णत: भिन्न प्रकार का। ऐसा आवश्यक नहीं कि उच्च दर्शन पर चर्चा करनेवाला व्यक्ति वैसा ही जीवन भी बिताता हो। किसी कॉलेज या विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र का एक प्राध्यापक अपने विषय का प्रकाण्ड विद्वान् हो सकता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह निश्चित रूप से अपने दर्शन के अनुसार जीवन-यापन भी करता हो। हमें इस बात की प्रत्यक्ष जानकारी है, क्योंकि हमने एक ऐसे दार्शनिक के पास अध्ययन किया है। वे एक प्रकाण्ड विद्वान् थे और विभिन्न गूढ़ विषयों पर अद्भुत रूप से बोल सकते थे। पर जीवन की उत्कृष्टता की दृष्टि से, उनका जीवन औसत से भी गया-बीता था। ऐसा भी नहीं कि उनकी ख्याति न रही हो। उनकी ख्याति भी थी, पर उनके जीवन का उनके दर्शन से कोई सम्बन्ध न था।

---

१. इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥ गीता, १८/६७

नारद के उपदेश इस प्रकार के लोगों के लिये नहीं हैं। वे ऐसे लोगों के प्रति अपनी बातें कह रहे हैं, जो उनकी शिक्षाओं के अनुरूप अपना जीवन-गठन करना चाहते हैं।

अब तक हमने प्रथम सूत्र में सन्निहित दो बिन्दुओं पर चर्चा की – इस भक्तियोग का विषय-वस्तु और इसकी साधना के योग्य अधिकारी। अब तीसरा बिन्दु है – इस शास्त्र के अध्ययन का प्रयोजन या उद्देश्य। परम-भक्ति ही इसके अध्ययन से प्राप्त होनेवाला लक्ष्य है।

चौथा बिन्दु है – सम्बन्ध। भक्तियोग के साधक के लिये भक्ति-मार्ग और उसके लक्ष्य-रूप परम प्रेम की ठीक-ठीक समझ मात्र ही महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस विषय का अध्ययन मात्र ही पर्याप्त नहीं है। भक्ति-मार्ग की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् व्यक्ति को लक्ष्य की प्राप्ति के लिये इसका अभ्यास करना पड़ता है। जहाँ तक ज्ञान-मार्ग का सम्बन्ध है, कहा गया है कि ब्रह्म के साथ जीव का एकात्म ही परम लक्ष्य और विचार ही इसका मार्ग है। इस मार्ग की चर्चा करते समय हमें इसकी बौद्धिक समझ हो सकती है। परन्तु भक्ति-मार्ग में बौद्धिक समझ मात्र ही पर्याप्त नहीं है। भक्ति में अभ्यास को अधिक महत्त्व दिया गया है, क्योंकि इसमें भक्ति ही साधन और साध्य – दोनों है। भागवत[२] में कहा गया है कि भक्ति के अभ्यास के द्वारा ही साधक को परम भक्ति की अवस्था में पहुँचना पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रारम्भिक साधक वैधी-भक्ति के मार्ग से शुरुआत करके अन्तत: परम लक्ष्य तक पहुँच जाता है। भक्ति के लिये कुछ आकर्षण हुए बिना साधक अपनी यह यात्रा प्रारम्भ नहीं करेगा, जो अन्तत: परम प्रेम के रूप में परिपक्व होती है।

२. भक्त्या संजातया भक्त्या विभ्रत्युत्पुलकां तनुम्।

❖ (क्रमश:) ❖

## कविता-कुंज

– १ –

### प्रार्थना

*मुकेश तिवारी, मानपुर*

**जय गुरुदेव कृपा कलिमल रवि,**
**अन्त: तम हर दे।**
**ज्ञान-दीप की दिव्य-ज्योति से,**
**यह वसुधा भर दे।। जय ....**

**प्रेम-भक्ति-करुणा-सरिता से,**
**बहे सकल जो माया,**
**उज्ज्वल मन का माणिक चमके,**
**मिटे कलुष की छाया।।**
**भक्ति-भाव चिन्तन धारा का,**
**अविरल रस भर दे।। जय ....**

**ईश्वर-चिन्तन मन में विकसित,**
**निशि-वासर हर्षाये,**
**भक्ति-भाव में रमकर प्राणी,**
**तत्सम ही हो जाये।**
**काम-क्रोध-मद-लोभ-मोह-तम**
**सब प्रकार हर दे।। जय ...**

**कलि का कौतुक देख थके अब,**
**अब तो मन पछताये,**
**कर दो कृपा नाथ पाँमर पर,**
**जीवन वृथा न जाये,**
**अपनी कृपा कटाक्ष निमिष लौ,**
**मम मन पर कर दे।। जय ...**

**पापी मन-मतंग बिरथा जग,**
**मृगतृष्णा पतिआये,**
**अमृत-वचन-सिन्धु तजि पाँमर,**
**प्रभु पद निकट न जाये।। जय ...**
**ऐसी भक्ति तरंगित हो प्रभु,**
**मानस रस भर दे।। जय ...**

– २ –

### दो कुण्डलियाँ

*जितेन्द्र कुमार तिवारी*

**नर-नारायण एक हैं, दोनों सदा अभिन्न।**
**नर पाये जब कष्ट तो, नारायण भी खिन्न।।**
**नारायण भी खिन्न, देखकर नर की पीड़ा।**
**नर-नारायण साथ-साथ करते हैं क्रीड़ा।।**
**कह 'जितेन्द्र' कविराय, एक में रहते दूजा।**
**सदा एक से प्रेम, दूसरे की है पूजा।।**

**प्राणी मात्र में ईश का, रहता नित्य निवास।**
**जीवों की सेवा करें, जाकर उनके पास।।**
**जाकर उनके पास, प्रेम की वाणी बोलें।**
**दूर करें कटु-भाव, हृदय में अमृत घोलें।।**
**कह 'जितेन्द्र' कविराय, प्रेम के वश सब होते।**
**सुनकर मीठी बात, सभी दुख-पीड़ा खोते।।**

# सुख-विवेचन

*स्वामी आत्मानन्द*

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हर प्राणी सुख चाहता है। उसकी हर क्रिया सुख पाने के लिए ही हुआ करती है। छान्दोग्य उपनिषद् में नारद को उपदेश देते हुए सनत्कुमार कहते हैं — **यदा वै सुखं लभते अथ करोति। न असुखं लब्ध्वा करोति। सुखमेव लब्ध्वा करोति।** — अर्थात् 'जब सुख मिलता है, तभी व्यक्ति क्रिया करता है। सुख न मिले, तो नहीं करता, सुख मिले तभी करता है।' यह जीवन का शाश्वत सिद्धान्त है। हम सुख-प्राप्ति के लिए लौकिक क्रियाओं में लगते हैं। हम अध्ययन में इसलिए प्रवृत्त होते हैं कि पढ़-लिखकर धनोपार्जन कर सकेंगे और उससे अभाव की पूर्ति द्वारा सुख सम्पादित कर सकेंगे।

वस्तुत: अभाव की पूर्ति से सुख की संवेदना होती है। हममें विद्या का अभाव है। उसके दूर होने पर हमें सुख मिलता है। इसी प्रकार रोग लग जाए तो दुःख होता और छूटे तो सुख का अनुभव होता है। इस तरह रोग का शमन भी हममें सुख की संवेदना पैदा करता है। पर भर्तृहरि ऐसे सुखानुभव को भ्रान्ति की कोटि में डालते हैं —

**तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिलं स्वादु सुरभि।**
**क्षुधार्तः सन् शालीन कवलयति शाकादि बलितान्॥**
**प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढ़तरमालिंगति वधू।**
**प्रतीकारो व्याधैः सुखमितिविपर्यस्यति जनः॥**

— अर्थात् जब मनुष्य को प्यास-रोग सताता है, तब मीठे और सुगन्धित जल के पान से वह इस रोग को दूर कर लेता है। आनन्द तो उसे रोग के दूर होने के कारण आया, परन्तु वह मानता है कि मीठा सुगन्धित जल पीने से मुझे बड़ा आनन्द आया। यदि बात ऐसी ही हो, तो पेट भरा हो, तब भी वैसा जल पीने से आनन्द आना चाहिए, पर वह नहीं आता। इसी प्रकार क्षुधा भी एक रोग है। उसकी निवृत्ति शाकादि पदार्थों से मिश्रित चावल आदि का उपयोग करने से होती है। लोग कहते हैं कि भोजन में बड़ा आनन्द आया, पर वस्तुतः आनन्द तो भूख-रूपी रोग के निवारण से प्राप्त हुआ। यदि किसी विशेष भोजन में आनन्द होता, तो पेट भरा रहने पर भी उसके भक्षण से आनन्द मिलना चाहिए, जो नहीं मिलता। इसी प्रकार काम का प्रदीप्त होना भी एक रोग है और उसका शमन पत्नी-सम्बन्ध के द्वारा होता है। असल में व्याधि के प्रतिकार के कारण हमें सुख मिलता है, पर मनुष्य भ्रान्ति से क्रियाओं में सुख मान लेता है। यदि सुख क्रियाओं से मिलता होता, तो सभी अवस्थाओं में उन क्रियाओं से सुख उत्पन्न होता, पर ऐसा नहीं हुआ करता।

तात्पर्य यह है कि रोग के दूर होने से ही सुख होता है। फ्लू या टायफायड के प्रकोप में पड़कर जब चंगा होता हूँ, तो मुझे सुख होता है। तो क्या इसीलिए मैं यह यत्न करूँ कि मुझे फिर से फ्लू या टायफायड हो जाय और मैं उससे मुक्त होने की चेष्टा करूँ, जिससे मुझे सुख हो? नहीं, मैं ऐसा नहीं करता। मैं यही चाहता हूँ कि मैं सदा स्वस्थ बना रहूँ। यह जो रोग होना और उससे मुक्त होने से सुख का अनुभव करना है, इस सुख का अन्तर्भाव सदैव नीरोग रहने के सुख में हो जाता है। कोई यह नहीं चाहता कि मुझे बारम्बार रोग होते रहें और उन रोगों को दूर कर मैं सुख का अनुभव करता रहूँ। इसी प्रकार कामना के सम्बन्ध में समझना चाहिए। हमारे मन में कामना पैदा होती है और उसकी तृप्ति कर हम सुख का अनुभव करते हैं। पर प्रश्न यह है कि क्या यह सुख हमें सन्तोष प्रदान करता है? इसका उत्तर हमें 'नहीं' में मिलेगा, क्योंकि हर कामना की पूर्ति हमारी लालसा को और भी बढ़ा देती है। यह लालसा तृष्णा को जन्म देती है। इस 'तृष्णा' को 'महाभारत' में 'प्राणान्तक रोग' कहा गया है। राजा ययाति अपने जीवन की अनुभूतियों के बल पर कह उठते हैं —

**या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।**
**योऽसौ प्राणान्तितो रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥**

— अर्थात् दुर्मतियों के लिए जो दुस्त्यज है और शरीर के जीर्ण होने पर भी जो जीर्ण नहीं होती, ऐसी जो प्राणान्तक रोग तृष्णा है, उसे छोड़ने पर ही यथार्थ सुख मिलता है। तृष्णा-रोग का शमन ही निष्कामता कहलाती है। मनुष्य को सच्चा और स्थायी सुख इसी निष्कामता से प्राप्त होता है, कामनाओं की पूर्ति के पीछे भागने से नहीं।

❖ ❖ ❖

# आत्माराम की आत्मकथा (२९)

*स्वामी जपानन्द*

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तों के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। इसके अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तकों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

**काठियावाड़ में – दहेज-बन्दर और घोघा-बन्दर**

धूनी के ऊपर प्रतिदिन खिचड़ी पकाकर उसमें खूब घी डालकर खाने लगा। यद्यपि उससे कुछ-कुछ बल मिल रहा था, परन्तु वह पेचिश का विकार जाता नहीं था। क्या किया जाय? वर्षाकाल समीप था। ठहरना या जाना? बारम्बार द्वारका का स्वप्न देखने लगा। **द्वारका** जाने का निश्चय किया। लेकिन वह बहुत दूर है और मैं अकिंचन भी हूँ। यदि उनकी इच्छा हो, तो जाना होगा और व्यवस्था हो जायेगी। इसी बीच एक दिन दहेज-बन्दर के छोटे राणा आकर भेंट कर गये थे। मौन त्याग करने का निश्चय किया, क्योंकि किसी विशेष उद्देश्य से तो वह व्रत लिया नहीं था। स्वेच्छा-पूर्वक ही वैसा किया था और अब वह अनावश्यक बोध हो रहा था। जो अनुभव होना था, वह तो हो गया था। नि:सन्देह यह व्रत बड़ा कठिन है, परन्तु जिस पर भगवान की कृपा हो, उसे भय कैसा! सब कुछ जुट जाता है।

एक दिन मौन तोड़ा और किसान के साथ बातें की। वह बड़ा खुश हुआ। उसके द्वारा गाँव में खबर पहुँचते ही बहुत-से लोग मिलने और बातें करने आये। इसके बाद वे लोग मुझे पकड़कर गाँव के उसी चौरे पर ले गये। **दहेज-बन्दर** में भी खबर पहुँच गई थी। राणा और छोटे राणा मिलने आये। खूब सत्संग हुआ। उन्होंने अपने यहाँ आने का निमंत्रण भी दिया। दो-तीन दिन बाद छोटे राणा फिर आये और जिद करके मुझे अपने साथ घर ले गये। कुछ दिन धर्मचर्चा में आनन्दपूर्वक बीते।

एक दिन राणा ने पूछा – "क्या समस्या है? चातुर्मास के दौरान यदि रहना हो, तो वे तदनुरूप व्यवस्था कर देंगे।"

बोला – "यदि सुविधा और सुयोग हो, तो द्वारका जाने की इच्छा है।"

अगले दिन ही एक विशेष नौका कुछ सरकारी कर्मचारियों को लेकर घोघा-बन्दर (भावनगर) जा रही थी। उस समय नावों का आवागमन बन्द रहता है – उस (खम्भात की) खाड़ी में उठनेवाली भयंकर तरंगों के कारण उस मौसम में स्टीमर भी नहीं चलती। सुबह ही मूंग के लड्डू लेकर नौका पर चढ़ा – और भी दस बारह सहयात्री थे। राणा ने सब व्यवस्था कर दी थी और **पोरबन्दर** तक का किराया दे दिया था। बड़ा कष्ट हुआ। सुबह छह बजे से सायंकाल के छह बजे तक – हर दस मिनट बाद एक बार इस ओर पकड़कर झूलने को कहते, तो एक बार उस ओर। और नौका धड़ाम-धड़ाम कर रही थी और प्रति क्षण लगता था कि अभी इसके दो टुकड़े हो जायेंगे। माझियों में से दो लोग तो मस्तूल पर बैठे पाल को इधर से उधर और उधर से इधर घुमा रहे थे। उन्हें जरा भी विश्राम न था। इधर सभी लोगों ने उल्टी करना आरम्भ कर दिया था और रो रहे थे। परन्तु मुझे जी मचलाने के बावजूद उल्टी नहीं हुई। किसी प्रकार केवल एक लड्डू खा सका था। अस्तु। भगवान की इच्छा से हम लोग सुरक्षित रूप से **घोघा-बन्दर** पहुँच गये।

समुद्र में स्नान करके दो-एक लड्डू खाने के बाद बैठकर वहाँ का दृश्य देख रहा था और नियति के अद्‌भुत खिंचाव के बारे में सोच रहा था – प्रारब्ध की शक्ति के बारे में सोच रहा था, तभी एक साधारण काठियावाड़ी ने आकर एक-दो वाक्यों में कुशल प्रश्न करने के बाद अपने घर रात्रिवास तथा भिक्षा के लिए निमंत्रित किया, मानो बहुत दिनों का परिचित हो। जगदम्बा की व्यवस्था है! उसके बाद वह यह कहकर चला गया – "यहीं ठहरना, मैं जरा बाजार से आता हूँ।"

– "माँ, तुम्हारी महिमा कौन समझ सकता है। सम्पत्ति में, विपत्ति में, तुम साथ-साथ हो, कभी छोड़ा नहीं। जब यह बात भूल जाता हूँ, तभी दुख पाता हूँ, हृदय में कष्ट पाता हूँ – तुम सदा साथ-साथ हो – अन्दर, बाहर – सर्वत्र चराचर जगत् में व्याप्त हो। ... तुम्हारी ही गोद में उठता-बैठता हूँ, जीता-मरता हूँ, पर कभी तुमसे अलग नहीं होता। यह बात भूल जाता हूँ, तभी तो कष्ट पाता हूँ। माँ, माँ, माँ, जगदम्बे! इस चित्त को मोहग्रस्त मत करना। मायामुग्ध करके मुझे भुलाना मत। स्नेहमयी माता के रूप में तुम सदा मेरे पास हो, सदा साथ-साथ हो। सुख-सम्पद में माँ, मैं तुम्हारा ही प्रसाद पान करता हूँ और दुख-संकट में तुम्हारे ही (मधुर) हाथों का स्पर्श पाता हूँ – माँ, माँ, माँ, ॐ।"

– "महाराज, नमो नारायण।" देखा – एक अन्य व्यक्ति – ब्राह्मण है, हँसते हुए पूछा – "कहाँ से आगमन हुआ?" बोला – "मेरे घर चलिए, रात को आनन्द करेंगे।" मैं बोला – "एक और का निमंत्रण स्वीकार कर लिया है, धन्यवाद।"

– "उस व्यक्ति ने क्या ... पोशाक पहन रखा था? – "हाँ।" – "खैर, आप संन्यासी हैं, आपकी इच्छा ! मैं ब्राह्मण हूँ, मेरे मकान के द्वार संन्यासियों के लिये सदा उन्मुक्त रहते हैं। उधर रहता हूँ, गौड़जी का मकान पूछने से कोई भी बता देगा, यहाँ असुविधा होने पर मेरी ओर आ जाइयेगा। संकोच मत कीजियेगा।"

संध्या के बाद पहलेवाला व्यक्ति बाजार से आया और मुझे अपने घर ले गया। घर में कई भैंसें थीं, घी-दूध खूब था – लड़के-बच्चे नहीं थे। पति-पत्नी – दोनों ही खूब भक्तिमान राजपूत थे। रात को खाने बैठे। राजपूत मेरे बगल में ही बैठा था, गृहिणी परोस रही थी – करीब सेर भर दूध ... और चावल। इसके बाद वह एक बहुत बड़ा बाजरे का रोटा (इसे ये लोग रोटला कहते हैं) ले आई, जो लगभग एक इंच मोटा और थाले के जितना बड़ा था। बाप रे ! लाकर मेरे पास ही रखा। दूध-भात से ही पेट भर चुका था, पर चखने की इच्छा होने के कारण राजपूत से जरा-सा तोड़कर देने के लिए कहा। "आधा या पौन खायेंगे" – कहकर जूठे हाथों से ही उसके बीचो-बीच से तोड़कर बोला – "जितनी इच्छा हो, खाइये।" और खुद ने आधा ले लिया। मैं तो अवाक् हो गया। ऐसा अनुभव पहली बार हुआ, तत्काल ब्राह्मण की बात याद आई। शायद इसी कारण कह रहा था कि आप संन्यासी हैं, आपकी इच्छा ! इनको जूठे का बोध नहीं है। परन्तु मैंने कुछ कहा नहीं, लिया भी नहीं। राजपूत का उधर ध्यान न था, पर गृहिणी ने देखा। उस समय तो उसने कुछ नहीं कहा, मगर भोजन के बाद जब हम लोग आंगन में बैठकर सत्संग कर रहे थे, तब उसने राजपूत से कहा – "उन्होंने रोटी नहीं खाई, यह तुमने देखा? मुझे लगता है, तुमने जूठे हाथ से तोड़ी थी, इसीलिये नहीं खाई।"

मैं उस समय गुजराती भाषा समझ लेता था, लेकिन बोल नहीं पाता था, इसीलिये बातचीत हिन्दी में करता था। और वे लोग हिन्दी ठीक से नहीं जानते थे – आधी गुजराती और आधी हिन्दी में बोल रहे थे। मुझसे पूछा – "क्यों महाराज, मैंने जूठे हाथों से रोटी तोड़ी थी, इसीलिए आपने नहीं खाई?" बोला – "जूठे हाथों से छूने से मैं नहीं खाता हूँ और मेरा पेट भी भर गया था, इसलिये उसकी विशेष जरूरत भी नहीं थी।" उसे कष्ट न हो इसलिए यह भी जोड़ दिया था। उसने कहा – "जूठा कहाँ? मैंने तो जूठा नहीं किया था ! मैंने तो केवल तोड़ा था !" समझा – इससे इनका जूठा नहीं होता। बोला – "हम लोग इसको भी जूठा मानते हैं, शायद तुम लोग ऐसा नहीं मानते !" – "मुँह में लगाये बिना जूठा कैसे हो सकता है? मैंने तो मुँह नहीं लगाया था।" – "समझ गया – पर हमारी ओर जिस हाथ से खाते हैं, उसे जूठा मानते है। वह हाथ किसी चीज में लग जाने से वह जूठी हो जाती है।" – "तब तो महाराज, आपका भरपेट खाना नहीं हुआ ! मैं अज्ञानी हूँ, मुझे मालूम नहीं था, हमारे देश के साधु-संन्यासियों ने कभी ऐसा बताया नहीं। बड़ा दोष हुआ।" आदि कहकर वह और उसकी स्त्री खेद प्रकट करने लगे। खूब समझाकर उन्हें शान्त करके मैं बोला – "सुबह खूब खाऊँगा।" कितना प्रेम है इनका ! कितने सरल हैं !

काठियावाड़ भक्तों का देश है। श्रीकृष्ण के अन्तिम दिनों की लीलाभूमि है ! धन्य ! राम की भाँति, कृष्ण की भाँति उसे खा नहीं सका ! – "गिनत नाहिं जूठे फल खाटे मीठे खारे।" – "शबरी दत्त फलाशन राम !" इनके भाव से कहाँ अनुप्राणित हो सका ! भीतर वैसा प्रेम न रहने पर बाहर कैसे प्रकट होगा ! घट में नहीं है, तो राम का अनुकरण करना व्यर्थ है। प्रेम ! प्रेम ! प्रेम न हुआ, तो क्या हुआ? माँ, माँ, मुझे प्रेम से पागल कर दो, उन्मत्त कर दो, ताकि मैं सबको अपना समझ सकूँ, सबमें घुल-मिलकर एक हो सकूँ।

घोघा में दो रात बिताकर भावनगर की ओर चला, इच्छा थी कि वहाँ से ट्रेन द्वारा पोरबन्दर जाऊँगा। तीसरे दिन सुबह उठकर चाय पीकर रवाना हुआ। चार मील चढ़ाई के बाद काफी दुर्बलता का बोध होने लगा और एक विशाल वटवृक्ष के नीचे आश्रय लिया। धूप थोड़ी कड़ी थी, चलने की इच्छा नहीं हो रही थी। पेचिश में खूब वृद्धि हो जाने के कारण दुर्बलता भी बढ़ी थी और लगता है कि भैंस के दूध से भी उसमें वृद्धि हुई थी। पास ही पीर की समाधि की सेवा में एक फकीर रहते थे। दोपहर में मुझे देखकर वे वहाँ आये और पूछा – "भोजन की क्या व्यवस्था हुई है?" फिर – "कुछ नहीं हुआ है" – सुनकर एक मील दूर एक गाँव ... में जाने को कहा। मैंने कहा – "अभी चलने की शक्ति नहीं है। अपराह्न में भावनगर जाऊँगा।" थोड़ी देर चुप रहकर उन्होंने पूछा – "मेरे हाथ की रसोई चलेगी?" मैं बोला – "क्यों नहीं चलेगी? मैं उसमें विश्वास नहीं करता। केवल सफाई का ध्यान रखता हूँ। सफाई न हो तो मैं ब्राह्मण के हाथ का भी नहीं खा सकता। सारे मनुष्य मेरी अपनी जाति के हैं, धर्म आदि सब बाहर की चीजें या विश्वास मात्र हैं, इससे जाति नहीं बदलती। वह मनुष्य का वर्गीकरण मात्र करता है।" साईजी बोले – "आपकी बात सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई, भोजन करके चर्चा करेंगे। तैयार हो जाने पर आपको बुलाऊँगा।" बुलावा आने पर जाकर देखा – प्याज की सब्जी तथा ज्वार की रोटी बनाई थी। वे बोले – "आप खायेंगे, यह सोचकर बर्तन आदि साफ करने में देर हो गई, इसके लिए क्षमा करना।" – "यह कैसी बात? मेरे लिए आपको इतना परिश्रम करना पड़ा !" आदि। केवल पानी, हल्दी तथा नमक डालकर प्याज की सब्जी बनी थी। मुँह में डालते ही स्वाद इतना खराब लगा कि भीतर तक हिलाकर

रख दिया। मैं उसे खा नहीं सका। आधी रोटी किसी तरह पानी के साथ चबा-चबाकर गले से नीचे उतारा। अच्छा नहीं लग रहा था। न जाने कैसी एक तरह की अव्यक्त दुस्संवेदना बोध करने लगा। मैं बोला – "साईजी, माफ करना, अस्वस्थ बोध हो रहा है, इसलिए उठ रहा हूँ।" – "ऐसा है क्या? कैसा महसूस कर रहे हैं?" – "अस्वस्थ। खा नहीं पा रहा हूँ। क्षमा कीजियेगा।" यह कहकर मैं उठा और पेड़ के नीचे जाकर लेट गया। जी मिचलाने लगा, लग रहा था कि उल्टी होगी। ऐसा चार-पाँच दिन तक रहा। कुछ खा नहीं पाता था। मानो भीतर से वही दुर्गन्ध निकलती थी। अन्यत्र भी मुसलमानों के यहाँ खाया है, पर कभी ऐसा नहीं हुआ था।

## पोरबन्दर और द्वारका

रात को भावनगर पहुँचा और स्टेशन पर जाकर पता चला कि पोरबन्दर की गाड़ी खड़ी है। टिकट लेकर गाड़ी में बैठा। दूसरे दिन सुबह पोरबन्दर पहुँचा। रास्ते में किसी ने कह दिया था – "संन्यास आश्रम में ठहरियेगा। वहाँ सारी व्यवस्था है।" रास्ते में ही संन्यास आश्रम था। जाते ही एक ब्राह्मण ने स्वागत किया और कमरा दे दिया। बाद में जिन वृद्धा माता ने आश्रम बनवाया था, वे आईं। बड़े यत्नपूर्वक सात-आठ दिन रखा। सुबह आकर थोड़ी-बहुत धर्मचर्चा करतीं। उनका अद्भुत स्वभाव था, भक्तिमती थीं।

पैदल मार्ग से पोरबन्दर से द्वारका की दूरी साठ-पैंसठ मील होगी। वहाँ से ट्रेन नहीं है। (उन दिनों राजकोट होकर जामनगर तक रेल लाइन थी। हाल ही में द्वारका विभाग में बड़ौदा की बल्लास्ट ट्रेन चलनी शुरू हुई थी, परन्तु वह अभी जामनगर के साथ जुड़ा नहीं था।) जहाज से जाने के लिये पैसे नहीं थे। कुछ दिन विश्राम करने के बाद शरीर में बल का बोध हो रहा था। पैदल-मार्ग से ही श्रीकृष्ण की द्वारका का दर्शन करने चल पड़ा।

पहले दिन शाम को एक खाड़ी पार करके कनफटे नाथों के एक आश्रम में पहुँचा। सोचा – रात वहीं बिताकर अगले दिन आम मार्ग से जाऊँगा। रात को आश्रम के आंगन में लेटा हुआ था, पर किसी ने भोजन के लिए बुलाया नहीं। महन्त और अन्य चेलों की सोने की व्यवस्था भी उसी आंगन में हुई थी। वे लोग भीतर थे। रात के करीब ११ बजे एक ने आकर कहा – "चलिए, महन्तजी बुला रहे हैं!" मैंने कहा – "कुछ खाने की इच्छा नहीं है, थोड़ा-सा दूध मिल जाय तो बहुत है। वहाँ जाकर क्या करूँगा?" – "नहीं, नहीं, उन्होंने आपको बुला लाने को कहा है।" हार मानकर साथ गया। जाकर देखा – एक आधे-अँधेरे कमरे में अनेक लोग गोल घेरा बनाकर (चक्राकार) बैठे हुए हैं और बीच में क्या है, दिख नहीं रहा है – टिमटिमाता हुआ एक दीपक जल रहा है। – "आइये, इधर चले आइये।" देखा स्त्री भी है। समझ गया कि यह तो वाममार्गियों का चक्र है। मैंने कहा – "मैं वेदान्ती हूँ, मुझे इसमें क्यों बुलाया है?" ज्योंही कहा, सब 'हो-हो' करके हँसने लगे। किसी ने गरम आवाज में कहा – "इन्हें यहाँ क्यों बुलवाया गया है? सब बरबाद हो गया। कौन लाया?" मैं तो अपमानित होकर वहाँ से चला आया। – तो ये लोग इस निर्जन में यही कर्म कर रहे हैं! एक बार सोचा कि नदी के किनारे-किनारे चला जाऊँ। फिर लगा – चलो, देखा जाय कि ये लोग सुबह क्या करते हैं! फिर डर भी लगा कि कहीं रात को मारने न लगें।

भोर के समय सब आकर अपने-अपने बिस्तर पर सो गये। महन्तनाथ अपना बिस्तर खींचकर ठीक मेरे बगल में ले आये। मैं चुपचाप लेटे-लेट देख रहा था। – "स्वामीजी, सो रहे हो क्या?" – "नहीं।" – "सोचा था, आप भी तांत्रिक हैं, क्योंकि बंगाली लोग तो सब तांत्रिक होते हैं। भूल हो गई, क्षमा करना और (हाथ जोड़कर) यह बात किसी और को मत बतलाना।" मुँह से शराब की बदबू आ रही थी। पीकर उन्मत्त हुआ था।

मैंने कहा – "बंगाली होने से ही क्या तांत्रिक होता है? और भी तो हैं ...।" फिर कुछ कड़ी बात कहने जा रहा था, परन्तु लगा कि शराबी के साथ वैसी चर्चा बेकार है। श्रीरामकृष्ण का वह उपदेश भी याद आ गया – "यदि देखूँ कि शराबी आया है, तो कहूँगा – चाचा, हुक्का पीयेंगे?" मैंने कहा – "अभी सो जाइये, सुबह बातें होंगी।"

सुबह उठकर विदा ली और रवाना हो गया – वैसे महन्त ने खूब दूध-चाय पिलाई थी, पर कोई चर्चा नहीं हुई। और कहने से भी कोई फल भी नहीं होता, क्योंकि यह भीतर से सुधार का विषय है। इस प्रवृत्ति का निरोध नहीं किया जा सकता। ये लोग इसी को धर्म के नाम चला रहे हैं और अज्ञ लोगों को धर्म की गलत धारणा दे रहे हैं – यही खराब है। परन्तु इसे रोका कैसे जाय? स्वामीजी ने जो कहा था, वही ठीक है – "सच्चे धर्म का ज्ञान देना और शिक्षित करना।" यही एकमात्र उपाय है। श्रीरामकृष्ण कहते थे – "वह भी एक पथ है, पर 'पाखाने का पथ' है, मलिन पथ है। सीधा राजपथ रहते, उस पथ से होकर भीतर क्यों जाना? भले लोग निर्भयतापूर्वक सामने के फाटक से जाते हैं और बुरे मलिन-कर्मा लोग डरते-डरते पीछे के फाटक से, पाखाने के फाटक से भीतर जाते हैं।" इसीलिए गुप्त रूप से इसकी व्यवस्था होती है और डरते हैं कि कहीं कोई जान न जाय। यही दोष निन्दनीय है, क्योंकि जहाँ भय है, वहीं अधर्म है। वेदान्त का – उपनिषद् का धर्म ही ठीक है, गीता का धर्म ही ठीक है – उसमें कुछ डरना या छिपाना नहीं है। सीधे स्वच्छ मार्ग पर सीना तानकर चलना है।

चलते-चलते रास्ते में एक वैष्णव साधु से भेंट हुई। वे

भी द्वारका जा रहे थे। अयोध्या के तुलसीदास के बड़े अखाड़े के शिष्य थे। स्वभाव अच्छा था। देखा – संन्यासियों के प्रति कोई विद्वेष-भाव नहीं था। तरह-तरह की बातें करते हुए एक गाँव में पहुँचकर चौरे में आसन लगाया गया। वे बोले – "स्वामीजी, आप आसन पर रहिये, भिक्षा आदि की सारी व्यवस्था मैं करता हूँ।" आटा, दाल आदि लाकर भोजन बनाने के बाद मुझे खिलाया। इस प्रकार प्रतिदिन द्वारका तक मुझे अन्न-चिन्ता नहीं करने दी। रास्ते में विविध प्रकार की चर्चा होती, वे ही आरम्भ करते। एक दिन भी मतभेद या विरोध नहीं हुआ। यद्यपि कई बार वैष्णव समाज की कट्टरता के विषय में उन्हें आघात लगता, मैं उन लोगों के अयौक्तिक आचरण के प्रसंग में कटाक्ष किया करता।

सम्भवत: सातवें दिन सुबह हम द्वारका पहुँचे। उनका शरीर सबल तथा और चलने की क्षमता भी काफी अधिक थी, अत: बहुत जल्दी पहुँच सकते थे, परन्तु मेरे लिये धीरे-धीरे चल रहे थे। उन साधु का यह अनुग्रह न होने पर शायद मुझे रास्ते में बहुत कष्ट होता। उन्हें नमस्कार करता हूँ।

द्वारका पहुँचते ही वे वैष्णव अखाड़े (या आश्रम) में चले गये। स्थान खोजते-खोजते मुझे आखिरकार समुद्र के पास श्मशान के निकट एक कृत्रिम गुफा मिली। उन्होंने अपना 'आसन' रखते ही इस विषय में मेरी सहायता की थी। बालू के बीच छोटी-छोटी ईंटों को जोड़कर ४ फीट लम्बा और ३ फीट चौड़ा एक कमरा बना हुआ था। दरवाजा भी था। भीतर नमी थी। मेरे साथ केवल एक कम्बल था, इसीलिये निश्चय किया कि कमरे में आधा फीट सूखा बालू भर देंगे और उसके ऊपर कम्बल बिछाकर 'आसन' लगायेंगे। दोनों ने मिलकर मोटे सूखे बालू से भराव किया। उसके बाद आसन लगाकर स्नान आदि करके हम द्वारकाधीश के दर्शनार्थ गये। मूल मन्दिर में मुझे तो जाने दिया, पर उनसे कहा – "सवा रुपैया दो!" मेरे बहुत समझाने के बाद ही उन्हें जाने दिया। सुन्दर दर्शन हुआ। सौम्य मूर्ति! सुन्दर भाव है। अच्छा लगा।

श्रीकृष्ण का, यदुकुल का लीला-स्थल समुद्र के गर्भ में विलीन हो गया था। आचार्य शंकर ने इसी स्थान पर उस काल में द्वारका पुरी थी, ऐसा निर्धारित करके एक मठ और इस मन्दिर की स्थापना की थी। यहाँ का सारदापीठ – शंकराचार्य की गद्दियों में से एक है। पीठ की अब वैसी श्री नहीं रह गयी है। गद्दीनशीन शंकराचार्य अनुपस्थित जमींदार के समान हैं। बड़ौदा स्टेट से प्रति मास बँधी हुई राशि पाते हैं और यथेच्छा भ्रमण करते रहते हैं। मन्दिर की व्यवस्था स्टेट के साथ कांटैक्ट के आधार पर पुजारी लोग करते थे। उन दिनों वे लोग प्रति वर्ष स्टेट को साठ हजार दिया करते थे। ऐसा लग रहा था मानो शंकराचार्य ने स्वयं आमदनी के लिये ही यह मन्दिर बनवाया हो। कितनी भक्ति है, इस विषय में सन्देह है। एक व्यवस्थापक रखा गया है। वह द्वारकापीठ की गद्दी की रखवाली करता है और आय-व्यय की व्यवस्था देखता है। पहले जहाँ संन्यासी लोग रहा करते थे, उसे अब तोड़-ताड़कर बनाई गयी हैं – खोलियाँ अर्थात् भाड़े पर देने के लिये छोटे-छोटे कमरे। लम्बा ब्लाक है। अनेक गृहस्थ किराये से रहते हैं। इससे शंकराचार्य को अतिरिक्त आमदनी होती है। उसके साथ है माँ शारदा का छोटा मन्दिर। कितने दुख की बात है! अध:पतन तीव्र गति से हो रहा है। धर्म में व्यावसायिकता के घुसते ही, बस, खतम। लोगों की श्रद्धा चली जाती है। लोग भी वही व्यावसायिक धर्म सीखते हैं। कुल मिलाकर धर्म सारहीन हो जाता है।

मैनेजर से अनुनय-विनय किये बिना किसी संन्यासी को न स्थान मिलता है और न भिक्षा। शंकराचार्य के स्वयं उपस्थित रहने पर न जाने क्या होता है! सब चोरी होता है, भयंकर चोरी! यहाँ धर्म के लिये भला स्थान ही कहाँ है? हाय शंकराचार्य! आकर देखिये, ये लोग आपके प्रिय स्थान की कैसी दुर्दशा कर रहे हैं, देखिये!

रास्ते में एक और द्वारका दिखी थी – मूल द्वारका। एक समृद्ध गाँव में छोटा-सा मन्दिर था। किसी ने आदि द्वारका के विरुद्ध इसे शुरू किया था, परन्तु आखिरकार सफल नहीं हो सके। उसके बाद वल्लभाचार्य का 'बेट द्वारका' जो 'भेट द्वारका' हो गया है। 'बेट' गुजराती शब्द है, जिसका अर्थ है बन्दरगाह या द्वीप, उसे न समझने के कारण लोगों उसे 'भेट' कर दिया है, जिसका अर्थ है मिलन, मुलाकात, साक्षात्कार।

द्वारका में पहले दिन तो अच्छा ही गया – थोड़ा प्रसाद खाकर बिताया। परन्तु दूसरे दिन खूब दुर्बलता का बोध होने लगा। अन्न का भाव और उस पेचिश के कारण कमजोरी का अनुभव हो रहा था। आँव पड़ना बन्द नहीं हुआ था। शरीर क्रमश: सूखता जा रहा था।

दूसरे दिन शाम को दो वृद्धाएँ और एक बालक 'गुफा' में आ पहुँचे। मैं उस समय लेटा हुआ था। बैठ नहीं पा रहा था और सिर चक्कर खा रहा था।

एक वृद्धा ने कहा – "कल आपको मन्दिर में देखा था। कल ही सोचा था कि आपसे भिक्षा के लिये कहूँगी, परन्तु उसके बाद आप कब चले गये, पता ही नहीं चला। इसीलिये सुबह से ही मन्दिर में जाकर प्रतीक्षा कर रही थी, परन्तु दोपहर के एक बज जाने पर देखा कि वे वैष्णव ब्राह्मण अकेले ही आये हैं। उनसे पूछने पर यहाँ के बारे में ज्ञात हुआ। लगता है आज आप मन्दिर नहीं गये! आपकी भिक्षा कहाँ हुई?"

मैंने कमण्डलु की ओर संकेत करते हुए कहा – "उसके पास।" – "ओह, तो भोजन नहीं हुआ! केवल पानी पीकर ही है? कल कहाँ भिक्षा हुई थी?"

– "थोड़ा-सा प्रसाद धारण करके पानी पी लिया था।"

– "ओह, तो कल भी भोजन नहीं हुआ। अहा, (दूसरी वृद्धा के प्रति) देखती हो न, कल इन्हें देखते ही कहने की इच्छा हुई थी। उसके बाद सोचा कि जप आदि करने के बाद कहूँगी। बाद में देखा कि वे नहीं हैं, चले गये हैं।"

लड़के को कुछ पैसे देकर बोलीं – "जा दौड़कर गाँठिया (बेसन से निर्मित) और मूँग के लड्डू ले आ!"

लड़का चला गया।

– "ऐसा करने से तो मृत्यु हो जायेगी। कल से हमारे घर पर ही खाइयेगा।"

दूसरी वृद्धा ने कहा – "ऐसा कैसे होगा! ये तो संन्यासी हैं। एक ही घर में भिक्षा करना उनका धर्म नहीं है। मैं ५-७ घर ठीक कर दूँगी, ये प्रत्येक में एक दिन भिक्षा करेंगे।"

आखिरकार यही निर्धारित हुआ और दोनों वृद्धाएँ प्रतिदिन व्यवस्था करके मुझे सूचना देंगी। बालक के मिठाई ले आने पर उसे खाकर पानी पीया। इसके बाद उन्होंने विदा ली।

उस वर्ष द्वारका में चातुर्मास हुआ। इसके बाद किसी भी दिन भिक्षा के लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ी। वर्षा-काल के दौरान गुफा में खूब नमी रहने के कारण गठिया जैसा हुआ। उन्हीं लोगों की चेष्टा से मूल मन्दिर के ठीक पीछे अर्धभग्न अवस्था में आदि शंकराचार्य का जो मठ था, उसके दुमंजले के एक कमरे में रहने की व्यवस्था हुई थी। नीचे सारदापीठ की गो-माताएँ और ऊपर बिना द्वार के दो कमरे – उन्हीं में से एक में रहता था। राजकुँअर बाई जिन्होंने शुरू में निमंत्रण दिया था, वे भी खूब यत्न किया करती थीं। सुबह-शाम दूध-चाय पहुँचाती और समाचार लेतीं कि भोजन आदि हुआ है या नहीं। सोचा था कि लगता है द्वारकाधीश ने मेरे लिये अनाहार से मृत्यु की व्यवस्था कर रखी है, परन्तु थोड़ा-सा तप कराने के बाद आराम से रखा। उनकी खूब दया है।

द्वारका में खूब अच्छा लग रहा था, और भी रहने की इच्छा थी। परन्तु प्लेग शुरू हो जाने के कारण सबकी इच्छा से विदा हुआ। उन्हीं लोगों ने हरिद्वार तक के किराये की व्यवस्था भी कर दी थी।

### पुष्कर और हरिद्वार में

अजमेर-पुष्कर दर्शन करने के बाद दिल्ली होकर हरिद्वार गया। द्वारका में ही पूजनीय हरि महाराज **(स्वामी तुरीयानन्द) की महासमाधि** का संवाद मिला। पुष्कर से दो-तीन दिन बाद **अजमेर** आया। अजमेर में गाड़ी छूटने का समय हो जाने और भीड़ होने के कारण मुझे परेशान देखकर एक पुलिसवाले ने कहा – "लाइये, टिकट बनवा दूँ, आप नहीं कर सकेंगे।" उसे धन्यवाद देकर किसी प्रकार दौड़कर गाड़ी पकड़ी, फिर देखा तो बुकिंग क्लर्क ने जो टिकट दिया था, वह बिना जाँच किया हुआ बहुत पुराना टिकट था। अब क्या हो? पास में पैसे भी नहीं थे। अपमानित होना पड़ेगा। अस्तु। जगदम्बा की जो इच्छा! यह सोचकर चुप रहा।

दिल्ली में उतरकर मैं सबसे अन्त में ट्रेन से निकला। टिकट कलेक्टर को टिकट दिया। उसने उसे देखकर जेब में रख लिया। दूसरे टिकट उसके हाथ में ही थे। मुझसे कहा – जाइये। फिर समझा कि एक दल ऐसा काम कर रहा है। सोचा रिपोर्ट करूँ, पर उसके लिये प्रमाण लाना, इधर-उधर दौड़-धूप करना और पास में पैसे का होना भी जरूरी था। इसलिये चुप रहने के सिवाय और कोई उपाय नहीं दिखा। दूसरा कोई उपाय कर सकता था, लेकिन शरीर अति दुर्बल था और किसी भी तरह हरिद्वार पहुँचने की इच्छा थी। बहुत दिनों बाद सुना कि ऐसा एक दल पकड़ा गया।

**दिल्ली** में कुछ दिन ठहर कर **हरिद्वार** चला आया। दो-चार दिन सेवाश्रम में विश्राम लेकर घण्टा-कुटीर गया। वहाँ रहकर दाल-रोटी खाने से आँव की तकलीफ बहुत बढ़ गई। हरिपुर से शुरू हुई थी – ग्रीष्म तथा वर्षा ऋतु बीत गई और शीतकाल आ गया, परन्तु वह अब भी ठीक नहीं हुआ। कनखल में थोड़ी-बहुत दवा ली, पर कोई लाभ नहीं हुआ।

❖ (क्रमशः) ❖

---

**पुरखों की थाती**

**कुसुमानां यथा हृद्यं सारं गृह्णाति षट्पदः।**
**सारं तथैव गृह्णाति शास्त्राणां खलु पण्डितः।।**

– जैसे भौंरा फूलों का मधुर रस ग्रहण कर लेता है, वैसे ही ज्ञानीजन शास्त्रों का सार ग्रहण कर लेते हैं।

**किमत्र चित्रं यत्सन्तः परानुग्रह-तत्पराः।**
**न हि स्वदेह-शैत्याय जायन्ते चन्दनद्रुमाः।।**

– सन्तगण दूसरों की सेवा में तत्पर रहते हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि चन्दन के वृक्ष कोई अपने स्वयं के शरीर को शीतल करने के लिये थोड़े ही पैदा होते हैं!

**क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।**
**क्षमया वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न सिद्ध्यति।**

– क्षमा दुर्बलों की शक्ति है और सबलों का आभूषण है। क्षमा से दुनिया को वश में किया जा सकता है। भला ऐसा कौन-सा कार्य है, जो क्षमा के द्वारा नहीं सिद्ध हो सकता।

# ईशावास्योपनिषद् (१)

*स्वामी सत्यरूपानन्द*

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने वर्षों पूर्व रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सत्संग-भवन में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन पूना की सीमा माने ने किया तथा वक्ता की पूर्ण सहमति से इसका सम्पादन एवं संयोजन स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है।)

**यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-**
**र्वेदैः साङ्ग-पद-क्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।**
**ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो**
**यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ।।**

प्रत्येक हिन्दु की ये साध रहती है कि यदि वह एक बार त्रिवेणी-संगम में जाकर माँ-गंगा में डुबकी लगाये, तो उससे उसका जीवन धन्य हो जायेगा। उसी प्रकार उपनिषद की इस ज्ञान-गंगा में अगर हम अवगाहन करें तो सचमुच हमारे जीवन की समस्याओं का समाधान हो जायेगा, जीवन धन्य हो जायेगा।

उपनिषदों के सन्दर्भ में सामान्यत: एक धारणा यह है कि ये बहुत कठिन हैं और केवल संन्यासियों के लिये हैं। स्वामी विवेकानन्द जी के आविर्भाव के पूर्व यह धारणा दृढ़ थी कि ये संन्यासी जंगलों में जाकर या एकान्त स्थान में अपने आश्रमों में रहकर इन उपनिषदों का अध्ययन करते हैं। जन-सामान्य के लिये ये उपनिषद नहीं हैं और इससे उसको कुछ लाभ नहीं होगा। किन्तु बात बिल्कुल इसके विपरीत है। स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा कि यदि इस देश को जगाना हो तथा इसके माध्यम से विश्वकल्याण करना हो तो उसके लिये यह आवश्यक है कि जन-जन में इस औपनिषदिक ज्ञान का प्रसार किया जाय। यह इसलिये कि उपनिषदों का ज्ञान ही मनुष्य के सम्बन्ध में अन्तिम सर्वांगपूर्ण ज्ञान देता है। इसलिये उसके माध्यम से हमारा जीवन धन्य हो जाता है। दूसरी बात, जिसे हम हिन्दू धर्म या सनातन धर्म कहते हैं, उसकी जितनी भी शाखा-प्रशाखायें हैं, उन सबका आधार उपनिषद ही है। गीता पूर्णरूपेण उपनिषद पर ही आधारित है। गीता के विषय में कहा गया है – **सर्वः उपनिषदः गावः दोग्धा गोपालनन्दनः** – सभी उपनिषदें गायें हैं। उन गायों को दूहने वाले भगवान श्रीकृष्ण हैं। सभी उपनिषदों का सार गीता है। भागवत में भी जो बातें हैं, वे भी इन्हीं उपनिषदों की, वेदों की, श्रुति की बातें हैं। उपनिषद की ज्ञान-गंगा में अवगाहन करने के पूर्व जो प्रार्थना की गयी, वह भी गुरु-वन्दना है। हमारे ऋषियों ने यह प्रार्थना की, जिसे संसार के सभी मनुष्य स्वीकार करते हैं –

**यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः** – इसका संक्षिप्त अर्थ है – जिस भगवान का गुणगान ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, वरुण अर्थात् सभी देवता, उत्तम स्तुतिओं से, उत्तम प्रार्थनाओं से करते हैं तथा जिनकी उपासना करते हैं तथा – **वेदैः-साङ्ग-पद-क्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः** – वेदों के सभी अंगों के सहित सामवेद का गायन करने वाले लोग भी हे प्रभु ! तुम्हारी ही प्रार्थना करते हैं। जिस प्रकार ये ब्रह्मा, इन्द्र, वरुण, आदि दिव्य प्रशंसावाचक स्तुतिओं से, कविताओं से तुम्हारी उपासना करते हैं, उसी प्रकार सामगान करने वाले लोग भी वेद, उपनिषद के द्वारा तुम्हारी महिमा का गुणगान करते हैं।

**ध्यानावस्थित तद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो** – ध्यान के द्वारा जिनका मन परमात्मा में समाहित हो गया है, वे योगीजन भी जिस परमात्मा का दर्शन करते हैं, वह भी तुम ही हो और हे प्रभु ! – **यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः** – सुर और असुर-गण भी जिस परमात्मा का अन्त नहीं पा सके, उस परमात्मा को मेरा प्रणाम है।

इस प्रकार यह प्रार्थना उपनिषद-ज्ञान के अनुकूल है। उपनिषदों का अध्ययन करने वाले साधक प्राय: यह प्रार्थना किया करते हैं। भिन्न-भिन्न उपनिषदों में भिन्न-भिन्न प्रार्थनायें पायी जाती हैं। उसका महत्त्व हम क्रमश: देखते जायेंगे।

ईशावास्य उपनिषद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अतिप्राचीन एक छोटा-सा ग्रन्थ है। यह केवल अठारह मन्त्रों में मनुष्य को सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है।

पहले हम इस 'उपनिषद' शब्द पर विचार कर लें। यह उपनिषद या वेदान्त हमारी भारतीय संस्कृति का प्राण है। प्राचीन भारतीय संस्कृत-साहित्य का उपनिषद सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। मनुष्य जीवन के रहस्यों की विस्तृत जानकारी इनमें उपलब्ध है। संसार के दूसरे ग्रन्थों में यह जानकारी इतने स्पष्ट व विस्तृत रूप में नहीं मिलती।

उपनिषद क्या हैं? उपनिषद वेदों के ही भाग हैं। वेदों के अन्तिम अध्यायों को उपनिषद कहा जाता है, इसलिये उसे वेदान्त भी कहा जाता है। दूसरी बात, यह ज्ञान का परिपाक है, जिसको जानने के बाद कुछ भी अजाना न रह जाय, सभी कुछ ज्ञात हो जाय, ऐसा जो परिपूर्ण ज्ञान है, उसे ही 'वेदान्त' या 'उपनिषद' कहते हैं।

'वेद' क्या है? वेद केवल पुस्तक नहीं है। वेद शब्द विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है – जानना। जब हम किसी भी वस्तु को जानते हैं, तो 'हमें वह विदित हुआ' ऐसा हम कहते हैं; 'हमने जान लिया' ऐसा हम कहते हैं।

इस विश्व-ब्रह्माण्ड के समस्त ज्ञानों के मूलश्रोत को जान लेने वाला ज्ञान ही वेद है। ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं रह जाता कि जिसका सब कुछ जान न लिया गया हो, अर्थात् वह ज्ञान के मूल व सबको जान लेता है।

वेद चार हैं – ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेदों के दो भाग हैं – कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। अधिकांश आनुष्ठानिक कर्म जो हम करते हैं उसका विस्तृत वर्णन वेदों के कर्मकाण्ड-भाग में है। जैसे नया घर बनाकर जो पूजा-अर्चना करते हैं, उसमें से अधिकांश भाग वेदों के कर्मकाण्ड-भाग में है। ये कर्मकाण्ड भी वेदों के अंश हैं। किन्तु ये कर्मकाण्ड सकाम हैं। पुत्रेष्टी यज्ञ से पुत्र-प्राप्ति, धनेष्टी यज्ञ से धन की प्राप्ति, नाम-यश के यज्ञ से नाम-यश की प्राप्ति होगी। इसी सकाम भावना से आज भी देशभर में यज्ञ आदि होते हैं। इन यज्ञों का एक ही तात्पर्य है कि अमुक प्रकार का यज्ञ करेंगे तो अमुक फल प्राप्त होगा। किसी-न-किसी फल की इच्छा से यज्ञों का आयोजन किया जाता है। विभिन्न प्रकार के यज्ञों का लक्ष्य है – इहलोक या परलोक में सुख की प्राप्ति। इहलोक और परलोक में सुखी रहने के लिये जो कुछ व्यवस्था आवश्यक है उसकी पूर्ति ये यज्ञ करते हैं। कर्मकाण्ड का अन्तिम लक्ष्य है कि मरने के बाद हम दूसरे लोक में या स्वर्गलोक में जायेंगे। यहाँ जो सुख हमें मिल रहा है, इससे शत-सहस्रगुण अधिक सुख हमें उन लोकों में जाकर मिलेगा। इसलिये कर्मकाण्डों के द्वारा हमें इहलोक और परलोक में सुख प्राप्ति की इच्छा रहती है। उसमें मुक्ति का प्रश्न नहीं है।

हम अपने जीवन में भी देखते हैं कि संसार का बड़ा-से-बड़ा सुख भी हमें स्थायी तृप्ति नहीं दे पाता। एक ऐसा समय आता है कि उस सुख से हम उब जाते हैं, अतृप्त हो जाते हैं। स्वर्ग में जो सुख मिलेंगे वे भी ऐसे ही होंगे। जो भी सुख हमें इन पंचेन्द्रियों से या स्वर्गादि लोकों में जाकर सूक्ष्म इन्द्रियों से मिलेगा वह एक-न-एक दिन अवश्य समाप्त होगा। **'क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोकं विशन्ति'** जहाँ पुण्य क्षीण हुआ कि फिर इस मर्त्यलोक में आना ही पड़ता है। इसलिये कर्मकाण्डों से मिलने वाला सुख स्थायी नहीं हो सकता। इससे मिलने वाला फल भी स्थायी नहीं हो सकता। इस पर बहुत गम्भीरता से ऋषियों ने विचार किया कि स्थायी सुख का स्वरूप क्या है, सत्य क्या है? आइये इसे देखें।

उपनिषदों में जो तत्त्व हैं, उन पर विचार करेंगे तो हम पायेंगे कि ये उपनिषद मानवीय चेतना के विकास के इतिहास हैं। मानव-व्यक्तित्व में जो परिवर्तन घटता है, वह परिवर्तन कैसे घटित होता है, मानव व्यक्तित्व का असल स्वरूप क्या है, इसका ज्ञान उपनिषदों से होता है। इसलिये ये उपनिषद मानवीय चेतना के विकास के इतिहास हैं। जब हम इस विकास पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि ये सभी हमारी चेतना की उन्नति और विकास के लिये हैं। यह हमारी ही चेतना के परिवर्तन, विकास और उन्नति का उपाय है। वे हमें दिशा देते हैं, संकेत देते हैं। प्राचीन ऋषियों ने इस सत्य पर विचार किया कि जो हम सबको इन्द्रियों से अनुभव होता है, उसे हम सत्य समझते हैं। किन्तु इन पंचेन्द्रियों द्वारा होने वाला अनुभव एक सीमित अनुभव है। यह कैसे? सत्य का जितना अंश ये इन्द्रियाँ ग्रहण कर पाती हैं उतना ही हम जानते हैं। किन्तु सत्य उतना ही नहीं है। उदाहरण – कान से जो बात हमने सुनी है, वह आँखों के लिये सत्य नहीं हो सकती। आँखें उसको देख नहीं सकतीं। यदि देख भी लीं, तो आँख सुनने का काम नहीं कर सकती। कान भी देखने का काम नहीं कर सकता। तो जिस इन्द्रिय की जितनी क्षमता है उसके अनुसार वह सत्य-तत्त्व को ग्रहण करता है। यह इन्द्रियगम्य सत्य है। इस इन्द्रियगम्य सत्य के दो भाग हम प्रतिदिन अनुभव करते हैं।

१. जाग्रत अवस्था में जिस सत्य का हम अनुभव करते हैं, वह सब पंचेन्द्रियों द्वारा करते हैं।

२. जब हम स्वप्न देखते हैं तो ये इन्द्रियाँ सोयी हुई होती हैं। पर स्वप्न में भी हम गर्मी, ठण्डी, भय, दुःख, आनन्द का अनुभव करते हैं। उस समय एक ही इन्द्रिय रहती है और वह है 'मन'। मन के द्वारा हम स्वप्न देखते हैं। स्वप्न देखते समय वह हमें इस संसार के समान ही सत्य प्रतीत होता है और हम उसमें डूब जाते हैं। जैसे यदि हम स्वप्न में डर जाते हैं और नींद खुलती है, तो हम देखते हैं कि हमारी छाती धड़क रही है। ऐसा प्रभाव होता है स्वप्न का।

श्रीरामकृष्ण देव एक कहानी कहा करते थे। एक किसान के इकलौते लड़के की मृत्यु हो गयी। उसकी पत्नी रो रही है। सब लोग रो रहे हैं। किन्तु किसान पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा है। आँखों में एक बूँद आँसू नहीं। उसकी पत्नी को बहुत बुरा लगा। वह कहती है, 'अरे कैसे आदमी हो तुम? हमारा इकलौता लड़का चला गया और तुम्हारी आँखों में एक बूँद आँसू भी नहीं? वह चुप बैठा है, मानो पत्थर की मूर्ति हो। वह कहता है, 'अरे पगली मैं यह सोच रहा हूँ कि मैं एक लड़के के लिये रोऊँ या सात लड़कों के लिये? वह बड़ी घबराई कि पति ये सब क्या कह रहे हैं? फिर वह कहता है, सुनो, 'कल रात मैं स्वप्न देख रहा था कि मैं एक राजा हूँ और मेरे सात लड़के हैं। बहुत सुन्दर और गुणी राजकुमार हैं। वे राज्य की व्यवस्था अच्छी तरह से देख रहे हैं। वे सब दुनिया के प्रशंसनीय हैं। बहुत से राजा अपनी लड़कियों का विवाह मेरे राजकुमारों से करना चाहते हैं। ये सब मैं आनन्द से देख रहा था। तब तक अचानक मेरी नींद खुल गई और देख रहा हूँ कि यहाँ मेरा एक पुत्र मरा हुआ

है। अब भला किसके लिये रोऊँ? इस एक पुत्र के लिये या उस स्वप्न में देखे सात पुत्रों के लिये। यह है स्वप्न का अनुभव। ये दोनों अनुभव पूर्ण सत्य नहीं हैं। क्यों नहीं हैं? क्योंकि सत्य की पहचान ही यह है कि सत्य कभी बाधित नहीं होता है। जैसा है, वैसा ही रहता है। भूतकाल में जैसे था, वैसे ही वर्तमान में है और भविष्य काल में भी वैसे ही रहेगा। जो अपरिवर्तनशील सत्ता है, जो शाश्वत है, वही सत्य है। इस सत्य की अनुभूति इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकती। इन्द्रियों द्वारा हमें जिसका ज्ञान होता है, वह केवल सत्य का आभास है। सत्य के समान लगता है। पूर्ण सत्य का ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। पूर्ण सत्य का ज्ञान उन्हीं को होता है जिन्होंने साधना के द्वारा, तपस्या के द्वारा, गुरु और भगवान की कृपा से अपने चित्त को सर्वथा शुद्ध कर लिया है, अपनी इन्द्रियों को वश में कर लिया है, जिसके चित्त में किसी भी प्रकार का विकार लेशमात्र भी नहीं है, ऐसे शुद्धचित्त और परम एकाग्र मन के द्वारा जिस सत्य की अनुभूति होती है, वही पारमार्थिक सत्य है, जो कभी बदलता नहीं, जो शाश्वत रहता है और उसके ज्ञान के द्वारा सब कुछ जान लिया जाता है। वही परम सुख है। इसका ज्ञान हमें कैसे हुआ? इसे ऋषियों ने अनुभव किया था।

ऋषि किसे कहते हैं? ऋषि, जिन्होंने मन्त्रों को देखा था – **ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः न तु वेदस्य कर्तारः** – ऋषियों के विषय में कहा गया है कि ऋषियों ने वेदों की रचना नहीं की, केवल अनुभव किये हुये सत्य को शब्दों में संकलित किया। जो परम सत्य है, इन्द्रियातीत सत्य है, उस तथ्य को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा था, अनुभव किया था। अनुमान से नहीं जैसे कि हम आप करते हैं। हमारा जीवन अनुमान पर आधारित है। हम सत्य का अनुमान करते हैं। कैसे? जैसे शास्त्रों में लिखा है, गुरु ने बताया है कि तुम वही नित्य-मुक्त-शुद्ध-चैतन्य आत्मा हो। हम इसका अनुमान करते हैं। इस अनुमान के द्वारा हम अपने जीवन के भवन को बनाने का प्रयास करते हैं। उसका परिणाम क्या होता है? जब कठिन परिस्थिति आती है या दुःख होता है, तब जीवन-भवन ढह जाता है, हमारा चरित्र दुर्बल हो जाता है, व्यक्तित्व टूट जाता है। ये सब अनुमान के कारण होता है।

अनुमान से जीवन नहीं बनता, बल्कि जीवन बनता है अनुभव से। अनुभव के आधार पर बना हुआ जीवन-भवन कभी नहीं ढहता। जिस व्यक्ति को अनुभव है – जैसे जलने का अनुभव – इस अनुभव ने उस व्यक्ति को सिखा दिया कि जलने से सावधान रहो। तब वह व्यक्ति जीवन भर आग से दूर और सावधान रहने का प्रयास करता है। अनुमान के आधार पर जीवन का गठन नहीं हो सकता। इससे थोड़ा बहुत व्यावहारिक जीवन ही चलाया जा सकता है। किन्तु जीवन का आधार अनुभव ही हो सकता है और अनुभव केवल इन्द्रियों द्वारा प्राप्त किया हुआ नहीं हो सकता, क्योंकि यह अनित्य है, यह सापेक्ष सत्य है, यह सत्य का ऊपरी हिस्सा है। केवल इन्द्रियगम्य अनुभवों के द्वारा गठित किया हुआ जीवन अस्थिर होगा। जीवन में कभी स्थिरता नहीं आयेगी। जीवन में परम शान्ति और परम आनन्द की प्राप्ति केवल इन्द्रियों के आधार पर नहीं हो सकती। इसलिये जिन ऋषियों ने मन्त्रों को (सत्य को) देखा था, उन्होंने समझ लिया था कि इन कर्मकाण्डों की बात पूर्ण सत्य नहीं है। इन कर्मकाण्डों से, यज्ञों से जो सुख अभी मिल रहा है, वही हजार गुणा ज्यादा होकर स्वर्ग में मिलेगा, किन्तु वह भी एक दिन समाप्त हो जायेगा और फिर हम दुःखी हो जायेंगे, कष्ट भोगेंगे, फिर हम जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ जायेंगे। तो इससे बचने का उपाय क्या है?

ऋषियों ने विचार करके बाहर देखना बन्द कर दिया और भीतर की ओर देखने का प्रयास किया। ज्ञानेन्द्रियों से, इन्द्रियों से मिलने वाले ज्ञान का उन्होंने बहुत अनुभव किया था। उसको छोड़कर उन्होंने सोचा कि इसके अतिरिक्त भी कोई ज्ञान है क्या? तो उन्हें ज्ञात हुआ कि और भी ऐसा एक ज्ञान है जिस ज्ञान का अनुभव होने पर मनुष्य सब प्रकार के दुख से मुक्त हो जाता है, सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। उसके जीवन में किसी भी प्रकार का द्वन्द्व और अभाव नहीं रह जाता है।

उपनिषदों की अन्तिम फलश्रुति क्या है? उपनिषदों के अध्ययन और अभ्यास करने से क्या होगा? सिर्फ अध्ययन करने से लाभ नहीं होगा। उसका जीवन में आचरण करना होगा। उपनिषदों में वर्णित सत्यों का जीवन में अनुभव होना चाहिये। जीवन में उस तरह का आचरण होना चाहिये। यदि केवल अनुमान रहेगा तो परीक्षा की घड़ी में वह सहायक नहीं होगा। जीवन में इस सत्य को पाने के लिये ऋषियों ने तपस्या की और उसके आधार पर उन्होंने समझा कि उपनिषद ब्रह्मविद्या है।

यह ब्रह्मविद्या सभी विद्याओं का मूल आधार है।

❖ (क्रमशः) ❖

# स्वामी विवेकानन्द और मानव-निर्माण

*डॉ. वी. सी. सिन्हा*

(लेखक प्रौद्योगिकी तथा प्रबन्धन के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और अनेक पुस्तकों के लेखक हैं। आप अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रींवा के कुलपति भी रह चुके हैं। सम्प्रति आप महाकाल इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी, उज्जैन के प्रबन्ध विभाग के निदेशक है। – सं.)

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने फ्रांसीसी साहित्यकार रोमॉ रोलॉ को एक पत्र में लिखा था – "यदि आप भारत को जानना चाहते हैं तो पहले स्वामी विवेकानन्द का अध्ययन कीजिये, उनमें सब कुछ सकारात्मक है, नकारात्मक कुछ भी नहीं।" इन शब्दों में श्री रवीन्द्रनाथ ने अत्यन्त विलक्षण और अद्‌भुत बात कह दी, जिससे एक ओर तो स्वामीजी के व्यक्तित्व का महत्त्व पता चलता है और दूसरी ओर भारत के आधुनिक निर्माण में उनकी प्रासंगिकता का आभास होता है। सचमुच यदि हम भारत के आत्म-स्वरूप का परिचय करना चाहते हैं, तो निश्चय ही हमें स्वामी विवेकानन्द का अभिज्ञान प्राप्त करना होगा, अर्थात् स्वामी विवेकानन्दजी के मूल स्वरूप को जाने बिना भारत को नहीं जाना जा सकता। स्वामीजी ने स्वयं ही लिखा है कि वे घनीभूत भारत हैं।

यद्यपि स्वामीजी का प्रादुर्भाव १९ वीं शताब्दी में हुआ तो भी उनके अग्निभूत विचारों ने, न केवल भारत अपितु विश्व को झकझोर दिया। तत्कालीन नेता, समाज-सुधारक, चिन्तक – गाँधी, तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, जवाहरलाल आदि सभी ने स्वामीजी के विचारों से प्रेरित होकर ही स्वतंत्रता आन्दोलन का बिगुल बजाया था और देश को स्वतंत्र करने का संकल्प लिया था, परन्तु आज स्वतंत्रता प्राप्त हुए लगभग ६ दशक हो चुके हैं और प्रश्न उठता है कि क्या हम अपनी आशा के अनुरूप भारत का निर्माण कर सके हैं?

यद्यपि कई क्षेत्रों में प्रगति हुई है, औद्योगिक उत्पादन बढ़ा है, कृषि में क्रान्ति आई है, परिवहन तथा संचार के साधनों का विकास हुआ है, तथापि प्रश्न यह है कि क्या गरीबी की समस्या का निदान हुआ है? हमारा उत्तर नकारात्मक ही होगा, बल्कि यह भी कि गरीबी के साथ भ्रष्टाचार, पापाचार, धार्मिक मत-भेद, जातीय-संघर्ष, शैक्षणिक अवमूल्यन का भी बोलबाला हुआ है। यद्यपि हम इस १०वीं पंचवर्षीय योजना के बीच में हैं, तथापि प्रश्न यह उठता है कि क्या यह एक अस्त-व्यस्त योजना थी अथवा योजनाबद्ध अस्त-व्यस्तता? आज हममें से अधिकांश लोग यह महसूस करते हैं कि हमसे कोई बड़ी चूक हो गई है। और वह चूक वास्तव में यह है कि हमने भारत के निर्माण के लिये कोई स्पष्ट योजना नहीं बनाई। जब हम कोई मकान बनाते हैं, तो हम किसी अनुभवी शिल्पकार से नक्शा बनवाकर तदनुरूप ही भवन का निर्माण करते हैं, परन्तु दुर्भाग्यवश इसका हमें अभाव रहा है। आज भारत के नवनिर्माण के लिए, उसे खुशहाल बनाने के लिये हमें स्वामीजी जैसा शिल्पकार चाहिए।

भारत-परिक्रमा के रूप में अपने भ्रमण के दौरान स्वामीजी ने विभिन्न स्थानों पर गरीबी, और लोगों के अभाव की जो जिन्दगी और शोषण देखा, उससे उनका हृदय करुणा से भर गया और उन्होंने कहा कि जब तक इन लाखों-करोड़ों लोगों का उत्थान नहीं हो जाता, भारत का कभी उत्थान नहीं होगा। स्वामीजी ने कहा कि पृथ्वी में हिन्दू जैसा कोई धर्म नहीं है, जो इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश देता हो और साथ ही पृथ्वी पर ऐसा कोई धर्म नहीं है, जो हिन्दू धर्म के समान गरीबों और पद-दलितों का गला ऐसी क्रूरता से घोटता हो। क्या हम मनुष्य हैं? हे भगवान, कब एक मनुष्य दूसरे के साथ भाई-चारे का बर्ताव करेगा।

इस स्थिति से उबरने के लिये स्वामीजी ने कहा कि हर देश की अपनी विशेषता होती है, अन्य सब बातें उसके बाद आती हैं। भारत की विशिष्टता है – उसका धर्म। भारत का प्राण धर्म है, भाषा धर्म है और भाव धर्म है, परन्तु उन्होंने धर्म का एक नया अर्थ और नया आयाम दिया। उन्होंने धर्म को जंगलों, पहाड़ों और कन्दराओं से निकाल कर हमारे रोज के जीवन में डालने का वन्दनीय कार्य किया। उन्होंने धर्म को जीवन से, समाज से और राष्ट्र से जोड़ा। वे सभी धर्मों का एक ही साध्य मानते थे – दूसरों की सेवा करना। वे धर्म को गरीबों, पददलितों की सेवा के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि धर्म केवल पुस्तकों, व्याख्यानों और प्रवचनों तक ही सीमित रहे। उन्होंने धर्म को केवल स्वमुक्ति का साधन न मानकर, सेवा द्वारा मुक्ति का सन्देश दिया है। स्वामीजी भूखे पेट व्यक्तियों से धर्म की बात करना बहुत बड़ा पाप मानते थे। उन्होंने एक स्थान पर लिखा भी है – मैं ऐसे धर्म में विश्वास नहीं करता, जो विधवाओं के आँसू नहीं पोंछ सकता और अनाथ बालकों के करुण-रुदन को रोक नहीं सकता। स्वामीजी का कहना था कि दीन-हीन की सेवा करना ही सच्ची शिव-सेवा है।

उनका मत था कि शिव उनसे प्रसन्न नहीं होते, जो केवल मन्दिर में जाकर माला-फूल और धूप चढ़ाते हैं, बल्कि उस व्यक्ति से अधिक प्रसन्न होते हैं जो जात-पाँत के भेद से निरपेक्ष सभी लोगों में शिव को देखता है और उनकी सेवा-पूजा करता है। इस प्रकार स्वामीजी ने 'शिव-ज्ञान से

जीव-सेवा' का महामंत्र दिया। उनके मतानुसार यदि कोई व्यक्ति वाराणसी के विश्वनाथ मन्दिर में किसी बूढ़े व्यक्ति को रौंदता हुआ जाकर शिव का अभिषेक करता है, तो वह धर्म न होकर अधर्म है। धर्म वह होता, जब वह बूढ़े व्यक्ति को सँभालकर ले जाता और शिव की पूजा कराता। साथ ही स्वामीजी कहते थे कि सेवा अहंकार-भाव से नहीं, बल्कि नि:स्वार्थ और उपासना के भाव से होनी चाहिये।

इस प्रकार स्वामीजी ने देश के नव-निर्माण के लिये सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा – यदि तुम मेरी बात सुनो तो तुम्हें सबसे पहले अपनी कोठरी का दरवाजा खुला रखना होगा। तुम्हारे घर के पास या बस्ती के पास जितने अभावग्रस्त लोग हैं उनकी तुम्हें यथार्थ सेवा करनी होगी, जो पीड़ित हैं उन्हें औषधि और पथ्य देना होगा, जो भूखे हैं उन्हें भोजन देना होगा और जो अज्ञानी हैं उन्हें वाणी द्वारा जहाँ तक हो सके समझाना होगा।

स्वामीजी का मत था कि गरीबी का मुख्य कारण अमीरों द्वारा शताब्दियों से गरीबों का शोषण करना रहा है। अत: स्वामीजी का दृढ़ विश्वास था कि भारत तभी जागेगा, जब विशाल हृदयवाले सैकड़ों स्त्री-पुरुष भोग-विलास और सुख की सभी इच्छाओं का विसर्जन कर अपने मन-वचन और कर्म से गरीबों को ऊपर उठाने का प्रयास करेंगे।

स्वामीजी का कहना था – महान् व्यक्तियों या ऋषियों के जीवन में सबसे बड़ा प्रवर्तक या ऊँचा उठानेवाला तत्त्व रहा है – आत्मविश्वास। उन्होंने कहा – पुराना धर्म कहता था कि नास्तिक वह है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, परन्तु नया धर्म कहता है कि नास्तिक वह है, जो अपने में विश्वास नहीं करता। जो व्यक्ति निरन्तर यही सोचता है कि वह नाचीज है और कुछ नहीं कर सकता है, तो सचमुच ही वह ऐसा बन जाता है। स्वामीजी विशेषकर नवयुवकों से कहा करते थे कि आत्मविश्वासी और निर्भय बनो तथा आनेवाली सारी समस्याओं का डटकर मुकाबला करो, क्योंकि देश की बागडोर तुम्हारे हाथों में है। स्वामीजी अपने अनुभव की बात बताते हैं कि जब वे परिव्राजक के रूप में वाराणसी में दुर्गा-मन्दिर के दर्शन करने जा रहे थे, तो कुछ बन्दर उनके पीछे पड़ गये। जैसे-जैसे स्वामीजी आगे बढ़ते गये, वैसे-वैसे और बन्दरों ने उनका पीछा किया। दूर से यह दृश्य देख रहे एक वृद्ध संन्यासी ने स्वामीजी से कहा – डटकर मुकाबला करो। जैसे ही स्वामीजी ने सामने से बन्दरों को ललकारा, सभी बन्दर पूँछ दबाकर भाग गये। इस दृष्टान्त को अमेरिका में सुनाते हुए उन्होंने कहा था कि हमें कठिनाइयों और मुसीबतों का डटकर मुकाबला करना चाहिये, परन्तु इस मुकाबले में उन्होंने नवयुवकों से कहा कि पहले बलवान और चरित्रवान बनो, धर्म बाद में आएगा। वे कहते थे कि गीता पढ़ने की अपेक्षा फुटबाल खेलकर तुम ईश्वर के कहीं अधिक समीप जा सकते हो। इसका तात्पर्य यह है कि जब तुम अधिक स्वस्थ और बलिष्ठ होगे तो गीता को अधिक अच्छी तरह से समझ सकोगे और जब तुम्हारे अन्दर खून तेजी से दौड़ेगा, कृष्ण के उपदेशों को भलीभाँति ग्रहण कर सकोगे और तुम अपने पैरों पर अधिक दृढ़ता के साथ खड़े रह सकोगे।

स्वामीजी नवयुवकों के चरित्र-गठन को सर्वाधिक महत्त्व देते थे। सभी प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य का विकास करना ही होना चाहिये। बिना चरित्रवान हुए किसी प्रकार का बड़ा काम नहीं किया जा सकता। जब स्वामीजी अमेरिका से लौटकर मद्रास में आये, तब कुछ नवयुवकों ने कहा कि स्वामीजी धर्म की बात छोड़िये और अब राजनीति में आकर हमें स्वतंत्रता दिलाइए। स्वामीजी ने उत्तर दिया – "हाँ, मैं तुम लोगों को स्वाधीनता दिला सकता हूँ, पर क्या तुम लोग उसे बचाकर रख सकोगे? तुम लोगों में मनुष्य कहाँ हैं? पहले मनुष्य बनाओ, उसके बाद स्वतंत्रता की बात सोचो।"

चरित्रवान लोगों के अभाव में ही आज देश में सर्वत्र अव्यवस्था और अराजकता फैली हुई है। हम सभी येन-केन-प्रकारेण अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। हम अपेक्षा करते हैं कि दूसरे लोग सच्चाई की राह पर चलें, ईमानदार हों और यदि हम अकेले असत्य की राह चलते है, बेईमान बनते हैं, तो हमें इसकी छूट मिलनी चाहिए। हम कैकेयी का दर्शन अपनाना चाहते हैं, जिसने अपने बेटे के लिये राज्यसत्ता का भोग और दूसरे के पुत्र के लिये त्याग और बनवास चाहा। हम मुँह से तो त्याग की प्रशंसा करते हैं, पर चाहते हैं कि दूसरे लोग ही त्याग करें। अत: हमारे पास चरित्रवान मनुष्य नहीं हैं। यही हमारी ज्वलन्त आवश्यकता है।

स्वामीजी की दृष्टि में नियम या संविधान से बड़ा मनुष्य है। कोई देश इस बात से महान् नहीं बनता कि उसकी संसद में अमुक प्रकार के कानून बनते हैं, बल्कि इस बात से कि उसके पास मनुष्य कैसे हैं, क्योंकि मनुष्य नियमों को बनाता है, नियम मनुष्य को नहीं बनाते। मनुष्य रुपये पैदा करता है, रुपये मनुष्य को पैदा नहीं करते। मनुष्य कीर्ति और नाम पैदा करता है, कीर्ति और नाम मनुष्य को पैदा नहीं करते। अत: वे कहते हैं – "मेरे मित्रो ! पहले मनुष्य बनो, तब देखोगे कि बाकी सभी चीजें स्वयं तुम्हारा अनुसरण करेंगी। केवल मनुष्यों की जरूरत है, शेष सब कुछ स्वयं हो जायेगा।"

हम मानव का निर्माण क्यों नहीं कर पा रहे हैं, इसका कारण है कि हम जो शिक्षा पा रहे हैं उसमें मनुष्य-निर्माण के तत्त्व का नितान्त अभाव है। स्वामीजी ने कहा था कि हमें ऐसी शिक्षा चाहिये, जिससे हम चरित्रवान बन सकें, मानसिक तेज बढ़े, बुद्धि का विकास हो और हम अपने पैरों पर खड़े हो सकें। हमें जरूरत इस बात की है कि विदेशी अधिकार

से स्वतंत्र रहकर हम अपनी विभिन्न भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान का अध्ययन करें, हमें अभी ऐसी शिक्षा की आवश्यकता है, जिससे हमारे उद्योग-धन्धे बढ़ें और रोजगार में वृद्धि हो। स्वामीजी पश्चिम के भौतिक-उत्कर्ष को बढ़ाना चाहते हैं और पूर्व के आध्यात्मिक उत्कर्ष को भी उससे जोड़ना चाहते थे। उनके लिए खेल का मैदान, कल-कारखाने, अध्ययन-कक्ष आदि ईश्वर से साक्षात्कार के उतने ही उत्तम तथा योग्य स्थान हैं, जितना कि साधु की कुटिया या मन्दिर के द्वार। हम विज्ञान की उपेक्षा कर प्रगति पर कुठाराघात नहीं कर सकते हैं, पर हमें सुनिश्चित कर लेना चाहिए कि यह ज्ञान कहीं हमें हृदयहीन, श्रद्धा-रहित और धर्म-विमुख न बना दे।

अत: यदि हम एक महान् प्रगतिशील, जीवन्त, महिमा-मण्डित भारत का निर्माण करना चाहते हैं, तो हमें स्वामी विवेकानन्द जी के आदर्शों के प्रति केवल मौखिक श्रद्धा न व्यक्त करके, उन्हें अपने जीवन में शत-प्रतिशत न सही, तो कुछ प्रतिशत ही, उतारने का प्रयास करना होगा।

❑❑❑

# असमिया संस्कृति की विशेषताएँ

*डॉ. महात्मा सिंह*

असमिया संस्कृति भारतीय संस्कृति का एक अभिन्न अंग है, फिर भी इसकी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। डॉ. लीला गगै का मानना है कि वर्तमान भारतीय संस्कृति में नेग्रिटो आस्ट्रिक, द्रविड़ और मंगोलीय लोगों के सुन्दर सांस्कृतिक उपादान मौजूद हैं, परन्तु सतही दृष्टि से देखने पर आज की भारतीय संस्कृति आर्यमुखी प्रतीत होती है – खास तौर पर धर्म और भाषा आर्यमूलक ही हैं।

प्राचीन असम में बसनेवाले आस्ट्रिक और मंगोलीय लोगों में उनके विशिष्ट सांस्कृतिक उपादान रहने पर भी, वर्तमान असमिया संस्कृति आर्यमुखी ही है, और साथ ही इसमें इसकी कुछ निजी विशेषताएँ भी हैं। मूल भारतीय संस्कृति ने आस्ट्रिक, द्रविड़ और आर्य-संस्कृति के त्रिवेणी-संगम से अपना रूप ग्रहण किया। मंगोल आलपाइन या नेग्रिटो संस्कृति से कुछ उपादान ग्रहण करने पर भी भारतीय संस्कृति में मूलत: उक्त तीनों संस्कृतियों की देन प्रचुर एवं प्रमुख हैं। दूसरी ओर असमिया संस्कृति के निर्माण में मंगोलीय, आस्ट्रिक और आर्य उपादानों का हाथ अधिक है।

हिन्दू और बौद्ध-धर्मों को किसी जमाने में सर्व-भारतीय धर्म के रूप में मान्यता मिली थी। शाक्त, शैव, वैष्णव, गाणपत्य आदि पौराणिक आदर्शों पर आधारित धर्मों का प्रचार भी भारतवर्ष में था। असम में किरात समाज के लौकिक आदर्श के प्रभाव के कारण हिन्दू धर्म की विभिन्न शाखाओं ने कुछ नूतनता प्राप्त की। भागवत पुराण का कृष्ण-चरित और कृष्ण-भक्ति-शाखा को शंकरदेव ने विशिष्टाद्वैतवाद की ओर मोड़ दिया। बौद्ध धर्म और संघ के आधार पर नाम, देव, गुरु और भक्तों की रूपरेखा तैयार की गई। समुदाय सहित ताली बजाकर एक स्वर में नाम-कीर्तन करने की प्रथा और आशीर्वाद देने की प्रथा भारत में अन्यत्र नहीं देखी जाती, यह यहीं की विशेषता है। टाई भाषा में 'देओ धाई' वाइलुंग रीति के साथ विषय-वस्तु और आशीर्वाद के सुर का सामंजस्य देखा जाता है। भारत के दूसरे राज्य में मन्दिर हैं और मन्दिरों में मूर्तियाँ होती हैं, लेकिन असम में मन्दिरों के अलावा नामघर भी होते हैं और नामघरों में कोई मूर्ति नहीं होती। मूर्ति की जगह भागवत को ही चैतन्य मूर्ति मानकर नाम-कीर्तन किया जाता है। जनजातीय मरंग-घर के साथ नामघरों का बहुत सादृश्य है। अन्य प्रान्तों में भागवत-पाठ को गुरुत्व दिया जाता है, पर असम में स्थानीय भाषा में रचित कीर्तन – नामघोषा, रत्नावली, दशम् आदि के पाठ पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

असमिया पूजा-पाठ की पद्धति भी बिल्कुल भिन्न है। भारत के अन्य राज्यों में प्रचलित त्यौहारों-उत्सवों का अपना-अपना रूप है। शहर के मण्डपों में आयोजित दुर्गा-पूजा को देखकर गाँवों में प्राचीन परम्पराओं पर आधारित दुर्गा-पूजा का स्वरूप निर्णय करना कठिन है। असम में ऐसे बहुत सारे देउशाल, देवभूमि या थान हैं, जहाँ किसी भी प्रकार की कोई मूर्ति या प्रतीक नहीं हैं। शरद-ऋतु में दुर्गा-पूजा के समय बतख, बकरे, भैंसे, कबूतर आदि की बलि देकर दुर्गा की पूजा की जाती है। बलि दिये गये जीवों का खून देवी को चढ़ाया जाता है। बहुधा ये पुजारी ब्राह्मण नहीं होते हैं, वे आर्येतर होते हैं। इसी तरह 'केचाई-खाती' (कच्चा खानेवाली), बुढ़ी गोंसावी, जयन्तेश्वरी, कामाख्या, उग्रतारा आदि मन्दिरों की पूजा-विधि स्थानीय हैं। इन देवियों को दुर्गा का ही अभिन्न रूप माना जाता है। शैवों की बात भी वैसी ही है। असमिया लोग जिन शिव की उपासना करते हैं, वे स्वभाव से उदासीन, भांग पीकर मस्त रहनेवाले और किसान हैं। दुर्गा की तरह शिवोपासना की भी अपनी विशेषता है। यहाँ

अधिकतर शिव-लिंग की पूजा होती है। असम में शिव को विष्णु का ही अभिन्न रूप माना जाता है। वैष्णव कवि शंकर -देव ने हरि-हर को एक माना है। असमिया शिवोपासना में गला मरोड़कर पशुओं की बलि देने का विधान मिलता है।

भारतीय मन्दिरों में तीन शैलियाँ देखी जाती हैं – नागर, वेशर और द्रविड़। असम के मन्दिरों में नागर शैली का प्रभाव और अग्नि पुराण की रीति रहने के बावजूद इसकी बनावट में कुछ अपनी विशेषताएँ भी मौजूद हैं। भारत के अन्य प्रान्तों में विग्रह की वेदी साधारणत: धरातल के कुछ ऊपर रहती है, लेकिन असम के सारे पुराने मन्दिरों में विग्रह धरातल से कुछ नीचे गड्ढे में स्थित है। यह सबसे बड़ा और तात्पर्यपूर्ण वैशिष्ट्य है। मूर्ति का स्थान मन्दिर के उत्तरी या पूर्वी भाग में होता है। दरवाजों का स्थान दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा में होता है। नामघरों के 'मणिकूट' की स्थिति पूर्व दिशा की ओर होती है। पूर्व दिशा की ओर मुँह करके ही प्रणाम किया जाता है। इसके अलावा असमिया समाज में सम्प्रदाय-विशेष की धारणाओं के अनुसार कई देवी-देवताओं की पूजा होती है। जन्माष्टमी उत्सव असमिया मराण सम्प्रदाय की औरतों के बीच भिन्न रूप धारण करता है। इसी तरह 'पचति' (कृष्ण के जन्म दिन के पाँचवें दिन) के उत्सव की भी अपनी विशेषता है। कुण्डी मामा, बलिया बाबा, लाकुरि, वाथौ, बुढ़ा गोंसाई, महादेव आदि शिव के विभिन्न रूप हैं, फिर भी भारतीय शिव से इनका काफी पार्थक्य है।

धर्म के बाद भाषा का स्थान आता है। भारत की प्राय: आंचलिक भाषाओं का उद्भव संस्कृत से होने और उनका व्याकरण भी संस्कृत के आधार पर होने के बावजूद असमिया भाषा पर यह बात पूर्णरूपेण लागू नहीं होती। असम में मंगोलीय मूल के लोगों की अपनी अलग-अलग भाषाएँ हैं। असमिया भाषा उनसे काफी प्रभावित है। उन भाषाओं के काफी शब्द असमिया में आये हैं। मूर्धन्यीकरण, अनुनासी-करण, विध्वन्यात्मक गठन, ह्रस्वकरण आदि असमिया भाषा की विशेषताएँ हैं। शब्द-समूहों के क्षेत्र में पचास प्रतिशत शब्द संस्कृत-मूलीय होने पर भी खण्ड-वाक्य, मुहावरे, कहावतें, लोकोक्तियाँ, बहुवचन बनाने के नियम आदि संस्कृत नियम से भिन्न हैं। असमिया साहित्य के इतिहास का आरम्भ ईस्वी शताब्दी के आरम्भ से ही हुआ था। लगभग आठवीं शताब्दी से ही पूर्वी भारत में निजी ऐतिह्य की प्रतिष्ठा कर साहित्य रचना की परम्परा भी शुरू होती है। लोक-साहित्य अपनी मधुरिमा और मिठास के लिए सारे भारत में अतुलनीय है। 'नाम' लोकगीत के सदृश्य लोकगीत अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं। ऐसे बहुत सारे लोकगीत हैं, जिनकी तुलना भारतीय साहित्य के किसी भी लोकगीत से नहीं की जा सकती। जन-जातीय भाषाओं का लिखित साहित्य और लिपि न होने पर भी लोकगीतों के मामले में वे धनी हैं।

असमिया समाज में नारी का महत्त्वपूर्ण और मर्यादित स्थान है। इस राज्य में लगे मातृ-प्रधान राज्यों के प्रभाव से नारियों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। असमिया समाज में दहेज की प्रथा नहीं है। असम की नारियों में पर्दा-प्रथा नहीं है। यहाँ राज-सभा में बैठकर अन्य सभासदों के साथ परामर्श करने, हाथ में अस्त्र लेकर युद्ध-भूमि में जाने तथा देश और जाति के लिए आत्म-बलिदान करने के भी काफी उदाहरण मौजूद हैं। बहुत पहले से ही असमी स्त्रियाँ पढ़ाई-लिखाई में भाग लेती रही हैं। भारत के अन्य राज्यों में कपड़ा बुनने का काम एक विशेष वर्ग के ही लोग करते हैं, जिन्हें 'जुलाहा' कहा जाता है, लेकिन असम में ऐसी बात नहीं है। असमिया स्त्री को करघे पर कपड़ा बुनना अवश्य आना चाहिए, नहीं तो उसकी शादी ही नहीं होती, चाहे कितना भी धनी परिवार क्यों न हो, लड़कियों को करघे पर कपड़ा बुनना सीखना ही पड़ता है। मेरी समझ से यही असमिया समाज की सबसे बड़ी विशेषता है। इस समाज में पिता को, 'देउता' तथा बच्ची को 'आई' या 'माँ' कहकर पुकारते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पिता या नारी का समाज में कितना सम्मान है। अभी तो प्रत्येक जगह की सामाजिक व्यवस्था एवं रहन-सहन के तौर-तरीकों में बदलाव आ रहा है, लेकिन मैंने असम में देखा है कि वहाँ के युवक आज भी दूर से अपने शिक्षक को आते हुए देखकर साइकल से उतर जाते हैं, पैर छूकर ही नमस्कार करते हैं और शिक्षक के सामने साइकल पर नहीं चढ़ते। शिक्षकों को ऐसा सम्मान अन्यत्र दुर्लभ है।

असमिया स्त्रियों के पहनावे में भी विशेषता है। ये तीन वस्त्र पहनती हैं – रिहा, मेखला और चादर। साधारणतया ये

## अनमोल उक्तियाँ

* उस कर्तव्य का पालन करो, जो तुम्हारे निकटतम है। – गेटे

* कर्तव्य कभी आग और पानी की परवाह नहीं करता। – मुंशी प्रेमचन्द

* (मोह की) दासता को कर्तव्य मान लेना कितना आसान है। – स्वामी विवेकानन्द

* मानव की सेवा करना मानव का सर्वप्रथम कर्तव्य है। – विनोबा भावे

* वीर होने के लिये मनुष्य को कर्तव्य से अधिक श्रम करना पड़ता है। – रेनाल्डस

'रिहा' नहीं पहनतीं, लेकिन विवाह के समय कन्या का 'रिहा' पहनना नितान्त आवश्यक है। यहाँ की औरतें कृषि-कार्य पशु-पालन, मछली पकड़ना, भोजन बनाना, बच्चों की देख-भाल करना, स्कूलों और दफ्तरों में काम करना, कपड़ा बुनना आदि सभी कार्यों में भाग लेती हैं और पति को भगवान का रूप ही समझती हैं। मैंने ऐसी कई औरतों को देखा है, जो पुरुष द्वारा भरे हुए पानी से स्नान नहीं करतीं। खाने के तौर-तरीकों में भी असमिया समाज की अपनी विशेषता है। किसी भी परिवार में जाने पर असमिया लोग सर्वप्रथम 'ताम्बूल-पान' एक विशेष प्रकार के पात्र, में रख देते हैं, जिसे ये लोग 'बटा' कहते हैं। मछली प्राय: सभी लोग खाते हैं। मैंने किसी भी असमिया को मुख्य आहार के रूप में रोटी लेते नहीं देखा। ये लोग चावल ही पसन्द करते हैं। इनके यहाँ चावल को पीसकर तिल और गुड़ मिलाकर 'पीठा' बनाते हैं, जो काफी स्वादिष्ट होता है और असम को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

इस समाज में सगाई में मछली देने, लड़के के नहाने के स्थान (बेई) के नीचे अण्डे गाड़ने, दुल्हन को अण्डा खिलाने, वर का वधू पर चावल छिड़कने आदि की प्रथा है। यहाँ के वाद्य-यंत्र – यथा ढोल, पेपा, गगना, टका, भोरताल, वीणा, टोकारी, करताल, रामताल, खोल आदि भी अपनी स्थानीय विशेताएँ लिये हुए है। अन्य प्रान्तों में जो छुआछूत का भेद-भाव देखा जाता है, असम में उसकी मात्रा नगण्य है। इस सन्दर्भ में मैं अपना एक अनुभव बताना चाहूँगा। १९५८ से १९६९ तक जब मैं असम के, खासकर बोड़ो क्षेत्र में था। उस समय मैंने बोड़ो लोगों में असमिया लोगों के प्रति एक आक्रोश का भाव देखा था और वही आक्रोश बाद में बोड़ोलैंड की माँग के रूप में प्रकट हुआ। उस आक्रोश का क्या कारण था? बोड़ो जाति का कोई व्यक्ति जब किसी असमिया परिवार, खासकर कामरूप के किसी असमिया परिवार में जाता था, तो बैठने को आसन तो मिलता था, पर असमिया संस्कृति में अतिथि को 'बटा' (पीतल का प्लेटनुमा पात्र) में रखकर जो ताम्बूल-पान दिया जाता है – वैसा उन्हें नहीं दिया जाता था। उन्हें केले के पत्ते पर रखकर पान पेश किया जाता था और दूसरी बात थी कि बोड़ो के चले जाने के बाद उस कमरे, या कम-से-कम उस स्थान को, जहाँ वह बैठा था, लीपते थे। जिसे जानकर बोड़ो लोग अपने को बड़ा अपमानित समझते थे। अब इनके समाज में शिक्षा का काफी प्रचार-प्रसार हुआ है, अब बोड़ो समाज से ही कई प्रोफेसर, अध्यापक, एडवोकेट और अफसर निकले हैं। वर्षों पहले कम-से-कम कुछ असमिया लोगों की नजर में, इनका समाज घृणित समझा जाता था, इसके परिणामस्वरूप आज ये लोग अपने लिए पृथक राज्य की माँग कर रहे हैं। इस तरह छुआछूत की स्वल्प मात्रा होने पर भी, कहीं-कहीं इसके दुष्परिणाम आज भी भुगतने पड़ रहे हैं।

असम की एक प्रथा ने मुझे काफी प्रभावित किया था। कोई सार्वजनिक काम हो, तो गाँव के प्रत्येक परिवार के लोग आकर उस कार्य को पूरा कर देते हैं। जैसे – विद्यालय भवन का निर्माण, छात्रों के लिए छात्रावास का निर्माण, पंचायत-भवन का निर्माण-कार्य आदि। मुझे स्मरण है कि जब कोकराझाड़ राष्ट्रभाषा विद्यालय भवन बनवाना था, तो उस कार्य के लिए कुछ बाँस की जरूरत थी। मैं उन दिनों बालागाँव, रंगाली खाता, तीतागुड़ी, आदि गाँवों में गया और गाँववालों के सामने अपनी समस्या रखी। ये गाँव बोड़ो जन-जाति लोगों के हैं। उनके सुझाव के अनुसार प्रत्येक गाँववाले से मैंने उस गाँव से अपेक्षित बाँसों की संख्या बता दी। आश्चर्य की बात यह है कि दूसरे दिन शाम को कोकराझाड़ से सरभंग (भूटान) जानेवाली सड़क के किनारे उन ग्रामीणों ने कई हजार बाँस लाकर रख दिये थे, जिन्हें मैंने बाद में ट्रक से कोकराझाड़ मँगवाये।

असमिया समाज-व्यवस्था सामूहिक-आदर्श पर आधारित है। जन-जातीय जीवन सदा से ही समूह या टोलियों पर आधारित रही है। घर बनवाने का कार्य हो या खेती करने का – एक साधारण बुलावे पर ही गाँव के सारे लोग जमा होकर उक्त कार्य को सम्पन्न कर देते हैं। आभूषणों के मामले में भी असमिया आभूषण अन्य राज्यों के जेवरों से भिन्न होते हैं। सोना, चाँदी के अलावा दूसरी धातुओं के बनाये 'ढोलविरि' 'गामखारू' (गले और हाथों में पहनने के आभूषण) की तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती। 'केतकी', 'खिरकाजाई', 'माघैमालति' (फूल-विशेष) आदि फूलों के पराग और पंखुडियों को मिलाकर एक विशेष प्रकार का सुगन्धित तेल बनाया जाता है, जो असम के अलावा अन्यत्र नहीं मिलता। असमिया औरतें पैरों में आभूषण नहीं पहनतीं, क्योंकि इन्हें कीचड़ में उतरकर खेतों में काम करना होता है। इसी तरह नाक में 'नाकफूल' पहनने का रिवाज बहुत कम है। असमिया समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये लोग केले के सूखे पत्ते या थम्भ को जलाकर एक क्षारीय चीज बनाते हैं, जिसे ये लोग 'खार' कहते हैं। भोजन में नमक के साथ थोड़ा-सा 'खार' भी मिलाते हैं। इसलिए लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ ने इन्हें 'खारखोआ अखमिया' कहा है। ❑❑❑

# अजमेर में दूसरी बार

*स्वामी विदेहात्मानन्द*

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों से संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

खेतड़ी के वाकयात रजिस्टर में २७ अक्तूबर १८९१ तक के स्वामीजी के नाम के उल्लेखों का उद्धरण हम पहले ही दे आये हैं। इसके बाद सहसा उनके नाम का उल्लेख मिलना बन्द हो जाता है, इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि इसके एक-दो दिन बाद ही – २८ या २९ अक्तूबर को स्वामीजी ने खेतड़ी से विदा ली और सम्भवत: जयपुर होते हुए अजमेर पहुँचे। मार्ग में हो सकता है कि वे कहीं अन्यत्र भी ठहरे हों, परन्तु लगभग १५ दिनों बाद हम उनके अजमेर में होने का निश्चित प्रमाण पाते हैं। श्री हरविलास सारदा की डायरी के अनुसार इस बार वे १३ नवम्बर १८९१ को वहाँ पहुँचे थे। 'एक अविस्मरणीय घटना' शीर्षक एक पूर्वोद्धृत लेख में श्रीमती नन्दिता भार्गव कहती हैं – "१८९१ ई. के नवम्बर के महीने में जब स्वामीजी दूसरी बार अजमेर आकर दीवान हरविलास सारदा नामक प्रसिद्ध समाज-सेवी की कोठी में ठहरे थे, तो उस समय घोषी मुहल्ला तथा उसके आसपास के निवासियों को उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।"[१]

### हरविलास सारदा : एक परिचय

हरविलास सारदा (१८६७-१९५५) अर्वाचीन भारतीय इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हैं, अत: उनकी डायरी के पृष्ठों को उद्धृत करने के पूर्व हम उनके जीवन तथा कार्य का संक्षिप्त परिचय दे रहे हैं, जो इस प्रकार है –

शताब्दियों से बाल विवाह की प्रथा हिन्दू समाज के लिए अभिशाप रही है और इसके परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की समस्याओं की सृष्टि हुई है। यदि किसी एक व्यक्ति ने इसके निवारण के लिए सर्वाधिक प्रयास किया हो, तो वे थे श्री हरविलास सारदा। सेंट्रल जेल लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य के रूप में उन्हीं की अथक चेष्टा के फलस्वरूप सितम्बर १९२९ में बाल-विवाह निरोधक अधिनियम पास हुआ और १ अप्रैल १९३० से लागू भी हो गया। उनका नाम इस अधिनियम के साथ ऐसा जुड़ गया है कि तभी से यह कानून 'सारदा एक्ट' के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ।

श्री सारदा का जन्म ३ जून, १८६७ ई. को अजमेर में हुआ था। १८८८ ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी. ए. की डिग्री हासिल करने के बाद अपनी युवावस्था में ही उन्होंने एक स्कूल-शिक्षक का व्यवसाय अपनाया। उनकी अभिरुचि बहुमुखी थी। तरुणावस्था में ही वे आर्यसमाज तथा इसके महान नेताओं के सम्पर्क में आए और आजीवन इस आन्दोलन से जुड़े रहे। १८८३ ई. से मृत्यु तक (१९५५ ई.) वे आर्य-समाज की 'परोपकारिणी-सभा' के सचिव रहे। अपने सुदीर्घ जीवन के दौरान वे समाज-सुधार, राजनीति, शिक्षा तथा दर्शन के क्षेत्रों में सक्रिय रहे। राजस्थान के इतिहासकारों में उनका विशेष स्थान है। उन्होंने विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें १९०५ ई. में प्रकाशित 'हिन्दू सुपीरियारिटी' (हिन्दू जाति की उत्कृष्टता) काफी महत्त्वपूर्ण है। १९२९ ई. में उन्होंने 'भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सभा की अध्यक्षता की। अपनी देशभक्ति तथा विद्वत्ता के चलते इस शताब्दी के पूर्वार्ध में वे पूरे भारत में सुप्रसिद्ध रहे। वे डी.ए.वी कॉलेज, अजमेर के संस्थापक थे। एक सामान्य शिक्षक से प्रारम्भ करके, बाद में अनेक बड़े-बड़े पदों पर कार्य करने के बाद अन्तत: वे जोधपुर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश हुए।

स्वामीजी के राजस्थान-भ्रमण के दौरान युवक हरविलास सारदा कई बार उनके निकट सम्पर्क में आए थे। माउंट आबू तथा अजमेर में तीन-चार बार उन्हें स्वामीजी के साथ मिलने-जुलने का सौभाग्य हुआ था। इस प्रकार करीब ४० दिनों तक प्राप्त स्वामीजी के सान्निध्य का श्री सारदा के व्यक्तित्व तथा भावी-जीवन पर जो प्रभाव पड़ा होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस सम्पर्क के फलस्वरूप निश्चय ही उनके विचार काफी परिपक्व तथा उदार हुए थे।

जहाँ तक हमें ज्ञात है, स्वामीजी-विषयक उनके संस्मरण सर्वप्रथम आंग्ल मासिक 'प्रबुद्ध-भारत' के फरवरी १९४६ ई. (पृ. ८२) के अंक में प्रकाशित हुए थे। तदुपरान्त उन्होंने १९५१ में प्रकाशित अपने 'Recollections and Reminiscences' (स्मृतियाँ और संस्मरण) पुस्तक में अपनी दैनन्दिनी के आधार पर स्वामीजी विषयक अपनी स्मृतियाँ लिपिबद्ध की

१. 'विवेक-शिखा' मासिक, छपरा, मार्च ९१, पृ. २६-२८

हैं। यहाँ पर हम इसी ग्रन्थ[२] के आधार पर उनके तत्कालीन संस्मरणों का अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। श्री सारदा की स्वामीजी के साथ आबू में पहली भेंट के करीब पाँच माह बाद उनकी अजमेर में यह दूसरी भेंट हुई, जिसका वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी दैनन्दिनी के आधार पर लिखा है –

"कलकत्ते के श्रीरामकृष्ण परमहंस के सुप्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द **१३ नवम्बर** १८९१ को अजमेर पधारे और **२५ नवम्बर** तक वहाँ रहकर ब्यावर चले गए। पहले दो दिन मेरा आतिथ्य ग्रहण करने के बाद वे छालेसर (अलीगढ़) के ठाकुर मुकुन्द सिंह के पास चले गए, जो उन दिनों अजमेर में ही निवास कर रहे थे। स्मरण आता है कि मेरे पूछने पर उन्होंने बताया था कि श्रीरामकृष्ण परमहंस से संन्यासी के रूप में दीक्षित होने के पूर्व उनका नाम मन्मथनाथ (नरेन्द्रनाथ?) दत्त था। मेरे पिता की चिकित्सा के विषय में उन्होंने कलकत्ते के एक आयुर्वेदिक चिकित्सक का नाम दिया था।

"नवम्बर-दिसम्बर १८९१ ई. की मेरी दैनन्दिनी में लिपिबद्ध टिप्पणियों से ज्ञात होता है कि इन दिनों मैं प्राय: प्रतिदिन ही स्वामीजी से मिला और उनके साथ धर्म, समाजशास्त्र, राजनीति, साहित्य, दर्शन आदि सभी प्रकार के विषयों पर उनके साथ चर्चा की।

"उनका कहना है कि वे युक्ति के परे जा चुके हैं। उनकी बातें मेरे लिए परम रुचिकर हैं और मैं उन्हें बड़ा पसन्द करता हूँ। वे एक परम आनन्दमय संगी हैं। यदि मैं बड़ी भूल नहीं कर रहा हूँ तो वे दुनिया में कुछ होकर रहेंगे।

"स्वामी विवेकानन्द आए और मेरे पिताजी के साथ दो घण्टे तक बातें कीं। तदुपरान्त हम सबने रात का भोजन किया। उनका कहना है कि वे वेदान्तवादी हैं। उनका गायन बड़ा मधुर है।"

२४ नवम्बर, १८९१ की प्रविष्टि में है – "स्वामीजी ने मुझे निम्नलिखित पुस्तकें पढ़ने की सलाह दी – हर्बर्ट स्पेंसर का 'प्रथम सिद्धान्त', कांट, हेगेल, काम्टे, बौद्ध साहित्य, टिंडल की पुस्तक और टॉमसन द्वारा लिखित उसका उत्तर।"

अगली प्रविष्टि है – "स्वामीजी के पास गया और उनके साथ बातें की। निर्वाण पर और यशोधरा को पहली बार देखकर तथा बाद में काले व सुनहरे अवगुण्ठन में देखकर बुद्ध पर जो प्रभाव हुआ और बुद्ध ने उसकी जो व्याख्या की थी, उस पर चर्चा हुई। यह व्याख्या 'आत्मा' की व्यक्तिगत सत्ता – एक इकाई के रूप में जीवात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करती है। निर्वाण के सिद्धान्त से इसका विरोध है। स्वामीजी ने इसकी यथासम्भव अच्छी व्याख्या की, पर मैं सन्तुष्ट नहीं हो सका। सम्भव है ध्यान द्वारा इस समस्या का हल हो जाय। उन्होंने कुछ भजन भी गाए।"

**२५ नवम्बर** को उन्होंने अपनी दैनन्दिनी में लिखा है – "प्रात:काल आठ बजे स्वामी विवेकानन्द मेरे घर आए। हमने जलपान किया, बातें की, फिर ठाकुर मुकुन्दसिंह के यहाँ गए और दोपहर को सवा बारह बजे मैं स्वामीजी को विदा करने रेलवे स्टेशन गया। वे ब्यावर चले गए और बाद में (वहाँ से) गुजरात की ओर प्रस्थान करेंगे।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी अजमेर से ब्यावर चले गये, परन्तु पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा के अनुरोध पर उन्हें एक बार पुन: लौटकर अजमेर आना पड़ा था।

### श्यामजी कृष्ण वर्मा : एक परिचय

अनोखी प्रतिभा के धनी श्यामजी कृष्ण वर्मा का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है – उनका जन्म गुजरात प्रान्त के कच्छ राज्य के माण्डवी कस्बे में ४ अक्तूबर १८५७ ई. को हुआ था। उनके पिता करसनजी भणसाली जाति के वैश्य थे। वे इतने निर्धन थे कि मुम्बई में रहकर बड़ी कठिनाई से अपना गुजर-बसर कर रहे थे। बालक का जन्म ननिहाल में हुआ और वहीं प्रारम्भिक शिक्षा-दिक्षा भी हुई। इसके बाद वे भुज नगर के अंग्रेजी विद्यालय में प्रविष्ट हुए। तदुपरान्त वे मुम्बई आकर विल्सन हाईस्कूल में पढ़ने लगे। प्रात:काल वहाँ पढ़ते और मध्याह्न या कभी-कभी संध्या को पं. विश्वनाथ शास्त्री की पाठशाला में जाकर संस्कृत का अध्ययन करते। हाईस्कूल की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करने के कारण उन्हें छात्रवृत्ति तथा नगर के सर्वश्रेष्ठ 'एलफिंस्टन हाईस्कूल' में प्रवेश मिला। बम्बई के धनी सेठ छबीलदास लल्लूभाई के ज्येष्ठ पुत्र रामदास श्यामजी के सहपाठी थे। सेठ छबीलदास ने मैन्चेस्टर का माल मुम्बई में बेचकर बेशुमार धन एकत्र किया था। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र से पूछा कि उसकी कक्षा में सर्वाधिक प्रतिभाशाली छात्र कौन है? स्वाभाविक था कि रामदास के मुख से श्यामजी का ही नाम निकलता। अब सेठ ने पुत्र से आग्रह किया कि वह किसी दिन श्यामजी को घर लेकर आये। श्यामजी अपने सहपाठी रामदास के आग्रह को स्वीकार कर उसके घर आये। सेठ छबीलदास से भी उनकी भेंट हुई और परिवार में उनका आना-जाना बढ़ता गया। कुछ समय पश्चात् सेठ छबीलदास के मन में अपनी कन्या भानुमती का विवाह श्यामजी से कर देने का विचार उत्पन्न हुआ और १८७५ ई. में यह विवाह सम्पन्न हो गया।

यह वर्ष श्यामजी के जीवन में अन्य दृष्टियों से भी महत्त्व रखता है। उसी वर्ष अप्रैल में स्वामी दयानन्दजी ने मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की। उस समय श्यामजी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये तथा समाज के संस्थापक सदस्यों में से एक हुए। तीसरी घटना यह हुई कि उसी वर्ष 'आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय' के संस्कृत के प्राध्यापक तथा विख्यात कोषकार

२. Recollections and Reminiscences, Ajmer, 1951, p. 23-25

मोनियर विलियम्स से उनकी भेंट हुई, जो उनकी संस्कृत भाषा में असाधारण योग्यता से विशेष प्रभावित हुए और दो वर्ष बाद उन्होंने इंग्लैंड से उनके पास प्रस्ताव भेजा कि वे उनके सहायक के रूप में आक्सफोर्ड में आ जायँ।

२१ वर्ष की आयु में आर्य समाज के प्रचारक के रूप में उन्होंने कई स्थानों पर संस्कृत में व्याख्यान दिये। १८७९ के मार्च में वे इंग्लैंड गये। वहाँ प्रो. विलियम्स के सहायक के रूप में कार्य करते हुए वे कानून की पढ़ाई भी करने लगे। दयानन्द सरस्वती के साथ उनका संस्कृत में पत्र-व्यवहार हुआ करता था। १८८५ ई. में वे भारत लौट आये।

२८ वर्ष की आयु में वे रतलाम रियासत के दीवान हुए। वहाँ स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण १८८८ में उन्होंने अजमेर जाकर वकालत शुरू की। साथ ही उन्होंने आसपास के कस्बों में सूत कातने के तीन कारखाने भी आरम्भ किये। इसी दौरान १८९१ ई. के नवम्बर-दिसम्बर में उनका परिव्राजक स्वामी विवेकानन्द जी के साथ सम्पर्क हुआ। बाद में उन्होंने उदयपुर तथा जूनागढ़ के दीवान का कार्य भी किया। तदुपरान्त १८९७ ई. में वे पुन: सपत्नीक इंग्लैंड गये। वहीं रहते समय उन्होंने वहाँ अध्ययनार्थ आनेवाले भारतीय विद्यार्थियों के लिये कई छात्रवृत्तियाँ प्रारम्भ कीं। वहीं से वे भारत की स्वाधीनता आन्दोलन का कार्य करने लगे। १९०५ ई. में उन्होंने 'होम रूल सोसायटी' की स्थापना की और लंदन में एक बँगला बनवाया, जिसे 'इंडिया हाउस' का नाम दिया। बाद में अंग्रेज सरकार का दबाव बढ़ जाने पर वे फ्रांस और स्विट्जरलैंड चले गये। १९३० में उनका देहावसान हुआ।

## ब्यावर से पुनः अजमेर

जैसा कि हमने देखा कि स्वामीजी २५ नवम्बर की ट्रेन से ब्यावर चले गये थे। उसके दो दिन बाद पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा मुम्बई से अजमेर लौटे। इस विषय में सारदा लिखते हैं – "मैं जिनके सम्पर्क में आया ऐसे महानतम विद्वानों में से एक श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा उन दिनों अजमेर में ही निवास करते थे, परन्तु स्वामीजी के आगमन के समय वे बम्बई गए हुए थे। उनके लौटने पर मैंने उन्हें स्वामी विवेकानन्द की विद्वत्ता, वाग्विदग्धता तथा देशभक्ति से अवगत कराते हुए कहा कि वे दो-तीन दिन पूर्व ही यहाँ से गए हैं और इस समय ब्यावर में हैं। अगले दिन पं. श्यामजी कृष्ण वर्मा को ब्यावर जाना था और उन्होंने वादा किया कि वे स्वामीजी को अपने साथ लेकर अजमेर लौटेंगे। अगले दिन वे स्वामीजी के साथ अजमेर वापस आए। स्वामी विवेकानन्द **चौदह-पन्द्रह दिनों तक** उनके मेहमान रहे और मैं प्रतिदिन श्यामजी के बँगले पर उनसे मिलने जाया करता था। शाम के समय हम तीनों एक साथ टलहने जाते। इन दो विद्वानों के सान्निध्य में मेरे जीवन का सर्वाधिक आनन्दमय काल बीता। ... मुझे भलीभाँति याद है कि स्वामीजी के साथ हमारी बातें परम रोचक हुआ करती थीं। उनकी वाग्मिता, राष्ट्रीयतावादी दृष्टिकोण तथा आनन्दमय स्वभाव ने मुझे बड़ा प्रभावित तथा हर्षित किया। जब श्यामजी तथा स्वामीजी संस्कृत साहित्य अथवा दर्शनशास्त्र के किसी विषय पर चर्चा करते, तब मैं प्राय: ही मौन श्रोता हुआ करता था।"[३]

**१२ दिसम्बर १८९१** को सारदा ने अपनी डायरी में लिखा – "श्यामजी कृष्ण वर्मा के घर गया, फिर उनके तथा स्वामी विवेकानन्द के साथ दूर तक टहलने गया; विविध विषयों पर – विशेषकर माल्थस के सिद्धान्त तथा संन्यासी द्वारा धन स्वीकार न करने की प्रथा पर चर्चा हुई। पं. श्यामजी इसके विरोधी थे और स्वामीजी इसके पक्ष में बोलते रहे। श्यामजी ने कहा कि स्वामी दयानन्द ने इस प्रथा में सुधार करके इसे दृढ़तर भूमि पर प्रतिष्ठित किया। रात का भोजन हो जाने के पश्चात् वेदान्त, जनसंख्या और कारणवाद तथा स्वाधीन इच्छा के सिद्धान्त पर बातें हुईं, विशेषकर इन प्रश्नों पर कि 'क्या मनुष्य अपनी परिस्थितियों के अधीन है?' और 'मनुष्य के जीवन में भाग्य का क्या स्थान है?' स्वामीजी ने कहा, 'जगत् इन्हीं के द्वारा नियंत्रित हो रहा है।' और श्यामजी ने इसका विरोध किया।

"जहाँ तक मुझे स्मरण आता है मैं एक बार और उनसे अजमेर में ही मिला था। तब वे दो-एक दिनों के लिए वहाँ आए थे। उन दिनों वे शिकागो के विश्व-धर्मसभा में जाने की तैयारी में लगे थे और खेतड़ी-नरेश से आर्थिक सहयोग की अपेक्षा कर रहे थे।[४] कुछ दिनों बाद मैंने सुना कि वे अमेरिका चले गए हैं। इसके बाद मेरा उनसे मिलना नहीं हो सका, परन्तु जब मैंने 'प्वायनियर' में पढ़ा कि उन्होंने शिकागो के सभी प्रतिनिधियों पर अद्भुत प्रभाव का विस्तार किया है, तो मुझे बड़े गर्व का अनुभव हुआ था। जब वे अजमेर में मेरे या श्यामजी के अतिथि के रूप में ठहरे थे, उस समय मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि शीघ्र ही एक विश्वविख्यात् व्यक्ति के रूप में उनका उदय होने वाला है। ... उन दिनों भी मैं उन्हें एक असाधारण व्यक्ति के रूप में देखता था, परन्तु विभिन्न विषयों पर उनके वार्तालापों तथा विदग्धतापूर्ण व्याख्याओं को मैंने लिखकर नहीं रखा। उनके व्यक्तित्व के तीन तत्त्वों – सहज स्वभाव, मधुर संगीत तथा स्वाधीन व निर्भय चरित्र ने मुझे सर्वाधिक प्रभावित किया।"[५]

श्री हरबिलास सारदा के उपरोक्त संस्मरण लगभग आधी

३. Prabuddha Bharata, Feb 1946, p. 82

४. अप्रैल ९३ में मद्रास से खेतड़ी जाते समय सम्भव है कि वे दो-एक दिन अजमेर में रुके हों, पर वे किसी आर्थिक सहायता की अपेक्षा नहीं कर रहे थे।

५. विवेक-ज्योति, वर्ष १९९६, अंक १, पृ. ६३-८

शताब्दी के पश्चात् लिपिबद्ध हुए थे, अतएव उनमें तथ्यों एवं तिथियों की किंचित् भूलें स्वाभाविक है, पर इनमें स्वामीजी के भ्रमणकाल की एक दुर्लभ झाँकी प्राप्त होती है।

और श्यामजी कृष्ण वर्मा पर इस भेंट का क्या परिणाम हुआ? श्यामजी संस्कृत भाषा तथा वेदों के एक महान् पण्डित और स्वामी दयानन्द सरस्वती के एक प्रमुख सहयोगी थे। परन्तु स्वामीजी तथा श्यामजी की विचारधारा में जमीन-आसमान का भेद था। श्यामजी सनातन हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों की अधिकांश मान्यताओं में अविश्वासी थे, जबकि स्वामीजी का वेदान्त सर्व-मत-ग्राही तथा प्रत्येक आध्यात्मिक भाव को अंगीकार करनेवाला था। दूसरी ओर स्वामीजी के साथ शास्त्रार्थ करके युक्ति-तर्क के द्वारा उन्हें पराजित कर पाना किसी व्यक्ति के लिये भी आसान नहीं था। अत: लगता है कि स्वामीजी के साथ इन चर्चाओं का परिणाम श्यामजी के लिये विशेष सुखद नहीं रहा। इस कारण स्वामीजी से अपने इस भेंट की बात को श्यामजी ने प्राय: विस्मृत ही कर दिया था। उनके साहित्य में शायद कहीं भी स्वामीजी से उनके भेंट का प्रसंग नहीं मिलता है। १९०३ ई. में मुम्बई के एक वेदान्त-अनुरागी श्री मुकुन्दराव जयकर[६], जब उच्च शिक्षा हेतु लन्दन गये, तो सुप्रसिद्ध देशभक्त श्यामजी से भी मिलने गये थे और उनके समक्ष उन्होंने अपने प्रेरणा-स्रोत स्वामी विवेकानन्द का प्रसंग उठाया, तो स्वामीजी के विषय में उनके द्वारा की गई टिप्पणी कोई विशेष मधुर न थी।[७]

## ट्रेन की दो घटनाएँ

जब स्वामीजी अजमेर से विदा होकर ट्रेन से अहमदाबाद (४९२ की.मी.) की ओर चले, तभी एक रोचक घटना[८] हुई थी। उनके पास की सीट पर बैठा थियासाफिस्ट सहयात्री विद्वान् होते हुए भी अलौकिकता में दृढ़ विश्वास रखता था। मौका मिलते ही उसने स्वामीजी के समक्ष प्रश्नों की झड़ी लगा दी। क्या आप हिमालय गये हैं? वहाँ क्या आपको अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न महात्माओं का दर्शन हुआ था? आदि आदि। स्वामीजी ने उसे शिक्षा देने की इच्छा से उसे अपनी बातें कहते रहने को प्रोत्साहित किया। उसके बाद उन्होंने स्वयं ही उन महात्माओं के चमत्कारों का ऐसा मोहक वर्णन किया कि उसे सुनकर उनके श्रोता का मुँह विस्मय में खुला-का-खुला रह गया। उसने पूछा – क्या उन्होंने वर्तमान युग की समाप्ति के बारे में भी कुछ कहा था? स्वामीजी बोले कि हाँ, इस विषय में उनकी महात्माओं के साथ सविस्तार बातें हुई थीं। उन लोगों ने उन्हें इस युग के आसन्न अन्त और सतयुग की स्थापना तथा मानवता के पुनरुत्थान में अपनी भूमिका के बारे में भी उन्हें बताया था, आदि आदि। वह व्यक्ति स्वामीजी के होठों से निकलने वाले प्रत्येक शब्द को बड़े ध्यान से सुन रहा था। अपने इस नवीन ज्ञानार्जन से आनन्दविभोर होकर उसने स्वामीजी को भोजनार्थ आमंत्रित किया। स्वामीजी ने दिन भर कुछ खाया नहीं था, अत: वे सहर्ष राजी हुए। उनके अनुरागियों ने सेकेंड क्लास का एक टिकट तो खरीद दिया था, पर साथ में कुछ पैसे या भोजन लेने के लिये उन्हें सहमत नहीं कर सके थे, क्योंकि उन दिनों उन्होंने कुछ भी संचय न करने का व्रत ले रखा था। उन्होंने देखा कि वह व्यक्ति दिल का अच्छा है, परन्तु अपने सहज-विश्वासी स्वभाव के कारण मिथ्या रहस्यवाद में फँसकर रह गया है। अत: भोजन समाप्त हो जाने के बाद उन्होंने उससे स्पष्ट तथा कठोर शब्दों में कहा – "तुम जो अपने इतने ज्ञान तथा विद्वत्ता का दावा कर रहे हो, कैसे बिना किसी हिचक के ऐसी अद्भुत बे-सिर-पैर की कहानियाँ निगल गये?" वह व्यक्ति सिर झुकाकर मौन रह गया। स्वामीजी ने आगे कहा – "मित्र, तुम बुद्धिमान प्रतीत होते हो। तुम्हारे जैसे व्यक्ति के लिये अपनी स्वयं की विवेक-बुद्धि का उपयोग करना ही उत्तम होगा। अलौकिक शक्तियों का आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। और विश्लेषण करने पर पता चलता है कि कामनाओं के दास तथा अहंकारी लोग ही इन चमत्कारों के चक्कर में पड़ते हैं। आध्यात्मिकता से चरित्र नामक सच्ची शक्ति आती है और वह सभी कामनाओं-वासनाओं को जड़-मूल से उखाड़ डालने पर ही विकसित होती है। उन मानसिक सिद्धियों का जीवन की महान् समस्याओं से कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं और उनके पीछे दौड़ने से ऊर्जा का व्यर्थ अपव्यय होता है। ये सिद्धियाँ स्वार्थपरता का चरम रूप हैं और मन को अध:पतन की ओर ले जाती हैं। ऐसी ही निरर्थक चीजें हमारे देश को बरबाद कर रही हैं। आज हमें जरूरत है – सुदृढ़ व्यावहारिक बुद्धि की, नागरिकता के बोध की और हमें मनुष्य बना सकनेवाले दर्शन तथा धर्म की।" ये बातें सुनकर वह व्यक्ति शर्मिंदा और स्वामीजी के दृष्टिकोण की सत्यता का कायल हो गया। उसने वचन दिया कि भविष्य में वह स्वामीजी के उपदेशों का अनुसरण करेगा।[९]

---

६. मुकुन्द रामराव जयकर (१८७३-१९५९) – एक प्रसिद्ध बैरिस्टर, वक्ता तथा राष्ट्रीय नेता। पूणे विश्वविद्यालय के संस्थापक तथा प्रथम कुलपति। (मराठी विश्वकोष, खण्ड ६, पृ. १८९-९०)। विश्वविद्यालय का ग्रन्थालय उन्हीं की स्मृति को समर्पित है।

७. The Story of my Life, M.R.Jayakar, Ed. 1958, Bombay, Vol. I, p. 44-48

८. स्वामीजी के मँझले भाई महेन्द्रनाथ दत्त द्वारा लिखित बँगला ग्रन्थ 'लन्दने स्वामी विवेकानन्द, (भाग १, द्वि.सं., पृ. ५३-५४) में भी यह घटना उनके अहमदाबाद की यात्रा के समय घटित बताई गयी है।

९. उपरोक्त विवरण अद्वैत आश्रम से प्रकाशित स्वामीजी की अंग्रेजी जीवनी (सं. १९९५, खण्ड १, पृ. ३५०-१) से लिया गया है। इसके अतिरिक्त श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने अपनी (शेष अगले पृष्ठ पर)

राजस्थान में ही कहीं यात्रा करते समय एक अन्य घटना के साथ ही हम स्वामीजी के इस प्रथम राजस्थान-प्रवास के वर्णन का पटाक्षेप करेंगे। एक बार वे इसी प्रान्त में कहीं यात्रा कर रहे थे और ट्रेन के उसी डिब्बे में दो अंग्रेज भी बैठे हुए थे। उन लोगों ने सोचा कि यह कोई अपढ़ साधु है और वे लोग उन्हें निशाना बनाकर अंग्रेजी में तरह-तरह के व्यंग्य-विनोद करने लगे। स्वामीजी ऐसी मुखमुद्रा के साथ बैठे रहे मानो वे कुछ भी समझ न रहे हों। जब आगे के किसी स्टेशन पर ट्रेन रुकी, तो स्वामीजी ने स्टेशन मास्टर से अंग्रेजी में एक गिलास पानी भेजने को कहा। तब उनके अंग्रेज सहयात्रियों को पता चला कि स्वामीजी अंग्रेजी जानते हैं और उन लोगों की सारी बातें समझ चुके हैं। वे लोग अपने व्यवहार पर बड़े लज्जित हुए और उनसे पूछने लगे कि उन्होंने इस पर अपना कोई विरोध क्यों नहीं प्रदर्शित किया! स्वामीजी ने उत्तर दिया – "मित्रो, इसके पहले भी मैं कई बार मूर्खों के सम्पर्क में आ चुका हूँ।" यह सुनकर वे अंग्रेज मारपीट करने को तैयार हो गये, परन्तु स्वामीजी का सुगठित शरीर तथा अदम्य निर्भयता देखकर, पूँछ दबाकर रह जाने में ही अपनी भलाई समझी और उनसे क्षमा माँगने लगे।[१०]

**❖ (क्रमश:) ❖**

(पिछले पृष्ठ से जारी) पूर्वोक्त बँगला पुस्तक 'लन्दने स्वामी विवेकानन्द, (भाग १, द्वि.सं., पृ. ५३-५४) तथा 'श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली' (खण्ड २, तृ. सं., पृ. १९१-९२ में इस घटना का एक अन्य विवरण दिया है, जिसके अनुसार – ट्रेन में उनकी भेंट एक नहीं बल्कि कई थियोसाफिस्टों से हुई थी। स्वामीजी भूख से अवसन्न बैठे हुए थे। वे लोग आपस में हिमालय में रहनेवाले महात्माओं के बारे में तरह-तरह की विचित्र बातें करने लगे। स्वामीजी बड़ी कठिनाई से अपना हास्य संवरण कर पा रहे थे। थोड़ी देर बाद वे लोग स्वामीजी की ओर उन्मुख होकर बोले – "बाबाजी, आप कहाँ से आ रहे हैं?" स्वामीजी – "मैं रमता साधु हूँ, हरिद्वार से आ रहा हूँ।" वे लोग – "फिर तो आपने महात्मा कुतमीलाल को जरूर देखा होगा!" स्वामीजी – "अजी, कुतमीलाल की क्या बात करते हैं? अभी कुछ दिन पहले ही तो उनके भण्डारे में गया था। बड़ा अद्‌भुत भण्डारा था! इतने बड़े-बड़े (अपनी हथेलियाँ फैलाकर) लड्डू खिलाये! और कितने साधु खाने को आये थे उनकी गिनती नहीं की जा सकती। वह सब मैं आप लोगों को कैसे बताऊँ!" वे लोग समझ नहीं सके कि स्वामीजी उन लोगों को शिक्षा देने के लिये उपहास कर रहे हैं। उसके बाद भोजन आदि हो जाने पर वे उन लोगों को समझाते हुए बोले – "तुम लोग इतना लिख-पढ़कर इन थियासाफिस्टों पर विश्वास करते हो? ये सब रहस्य तथा चमत्कार ढूँढ़नेवालों का दल है।"

१०. The Life of Swami Vivekananda, Advaita Ashrama, Ed. 1995, Vol 1, P. 350-51
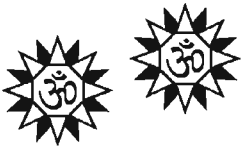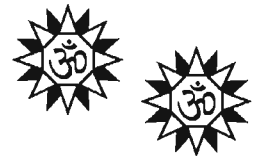
# वाराणसी में स्वामी विवेकानन्द (१)

***स्वामी सदाशिवानन्द***

(स्वामीजी १९०२ ई. में जब अन्तिम बार वाराणसी आये, उस समय हरिनाथ ओदेदार ने साथ रहकर उनकी सेवा की थी। हरिनाथ बाद में संन्यास लेकर स्वामी सदाशिवानन्द हुए। १९२२-२३ ई. में स्वामीजी के छोटे भाई श्री महेन्द्रनाथ दत्त ने उनसे सुनकर इन स्मृतियों को लिपिबद्ध कर लिया था और बाद में 'काशीधामे स्वामी विवेकानन्द' नामक बँगला पुस्तक के रूप में और अंग्रेजी की 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में प्रकाशित हुई, उन्हीं का 'विवेक-ज्योति' के लिये अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने । – सं.)

स्वामी विवेकानन्द की पुण्यकीर्ति मैंने सर्वप्रथम बिहार के आरा नगर के एक वाचनालय में एक प्रमुख वकील के मुख से सुनी – वे एक बंगाली संन्यासी हैं, जिन्होंने अमेरिका के शिकागो नगर में जाकर वहाँ आयोजित धर्म-महासभा में प्राचीन हिन्दू-दर्शन की ध्वजा फहराई है।

कुछ काल बाद १८९८ ई. की जुलाई में अपने बड़े भाई की सहसा मृत्यु के बाद मैं वाराणसी चला गया, जहाँ मेरी शोक-सन्तप्त विधवा माता एकाकी निवास करती थीं।

मैं पहले ही स्वामी रामस्वरूपाचार्य से दीक्षा प्राप्त कर चुका था, जो स्वामी भागवताचार्य के शिष्य और वृन्दावन के श्रीरंगनाथ तथा मथुरा के द्वारकाधीश मन्दिरों के प्रथम महन्त स्वामी रंगाचार्य के प्रशिष्य थे। उन्होंने मुझे एक वैष्णव ब्रह्मचारी के रूप में स्वीकार करके पूजा की औपचारिक विधि तथा कठोर ब्रह्मचर्य की शिक्षा दी थी। तब तक मैं सुरेशचन्द्र दत्त द्वारा लिखित श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा उपदेशों से काफी प्रभावित हो चुका था और इस प्रकार मैं उस स्रोत के उद्गम तक पहुँच चुका था, जो अन्ततः अन्य अनेक लोगों के समान ही आध्यात्मिक जीवन के लिये मेरी भी प्यास बुझाने वाली थी।

आश्विन माह में महाष्टमी का दिन था। मैं अपने मित्र जगत् दुर्लभ घोष के साथ वाराणसी के दुर्गा मन्दिर गया और अगले दिन उन्हीं के साथ पूज्यपाद स्वामी भास्करानन्द का दर्शन करने गया, जो उस समय अमेठी के महाराजा के उद्यान-भवन में ठहरे थे। कुछ सज्जनों के बीच खड़े दो संन्यासियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। दोनों में से जो गैरिक वस्त्र पहने लम्बे तथा सुगठित शरीरवाले थे, उन्हें देखकर मेरे मन में स्वामी विवेकानन्द की स्मृति हो आयी, जो तब तक भारत लौट चुके थे।

मैंने सोचा कि सम्भव है ये वही हों और इसका सत्यापन करने हेतु मैं प्रतीक्षा करने लगा। लम्बे स्वामीजी ने संन्यास-परम्परा के अनुसार 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर स्वामी भास्करानन्द जी का अभिवादन किया और उन्होंने भी तत्काल 'नमो नारायणाय' कहकर उसका उत्तर दिया। दोनों के बीच अन्तरंगता के साथ बातचीत होने लगी। किसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द का प्रसंग उठा और तत्काल भास्करानन्द जी के तपोमय चेहरे पर प्रेम तथा श्रद्धा का विनम्र भाव उभर आया और वे बोले – "भैया, किसी तरह एक बार स्वामीजी को यहाँ ले आओ, ताकि मैं उनका दर्शन कर सकूँ।" यद्यपि भास्करानन्द जी के आसपास, उनके प्रति एक महान् तथा विद्वान् के रूप में सम्मान का भाव रखनेवाले बहुत-से लोग एकत्र थे, पर उन्हें इस बात का ख्याल ही नहीं था कि इस प्रकार खुले आम स्वामी विवेकानन्द की प्रशंसा से लोगों के मन में क्या धारणा होगी !
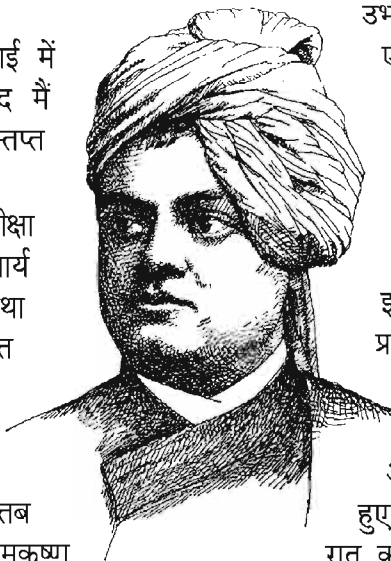
लम्बे स्वामीजी ने उत्तर दिया – "हाँ महाराज, मैं अवश्य ही उन्हें लिखूँगा। अभी वे वायु-परिवर्तन के लिये देवघर गये हुए हैं।" भास्करानन्द जी बोले – "तो कृपया रात को फिर आइये।" यह कहकर उन्होंने विदा किया और जिस व्यक्ति का मैं इतनी एकाग्रता से निरीक्षण कर रहा था, वे मेरी दृष्टि से लुप्त हो गये। परन्तु पूछताछ करने पर मुझे पता चला कि उनका नाम है – स्वामी निरंजनानन्द और वे स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाई हैं। उनके साथ के स्वामी शुद्धानन्द जी थे।

१८९८ ई. के सितम्बर में एक दिन मैं अपनी दैनन्दिन प्रार्थना और साधना करके लौट रहा था, तभी मेरी भेंट चारु-चन्द्र दास से हुई, जो बाद में रामकृष्ण संघ के स्वामी शुभानन्द और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी के संस्थापक हुए। हम दोनों के बीच मित्रता स्थापित होने में ज्यादा समय नहीं लगा। उन्होंने मुझे पढ़ने के लिये मिशन द्वारा प्रकाशित कुछ पुस्तकें दीं, जिनमें कुछ पुस्तकें स्वामी विवेकानन्द की भी थीं। मेरे विद्वान् मित्र केदारनाथ मौलिक (बाद में स्वामी अचलानन्द) के घर में एक पाठचक्र की स्थापना हुई। और अगले दो वर्षों तक चारुबाबू ने बड़े प्रयासपूर्वक हमें आध्यात्मिक उन्नति में कर्मयोग के महत्त्व का बोध कराया। उन्होंने योग के अन्य पहलुओं पर बल देनेवाले स्वामी विवेकानन्द के

अन्य ग्रन्थों को भी पढ़कर हमें सुनाया। कभी हम लोग केदार बाबू या चारुबाबू के घर पर मिलते और कभी हमारे अपने पारिवारिक निवास पर। इस प्रकार हम लोगों ने एक छोटा-सा सेवाश्रम आरम्भ करने के लिये युवा कर्मियों की एक टोली एकत्र कर ली।

इसी दौरान हमने सुना कि स्वामी विवेकानन्द वायु-परिवर्तन के निमित्त वाराणसी आनेवाले हैं। स्वामी निरंजनानन्द के सुपरिचित राजा कालीकृष्ण ठाकुर के उद्यान-भवन में उनके ठहरने की व्यवस्था हुई। हमारे सेवाश्रम के युवकों ने रेल्वे स्टेशन पर पुष्पों तथा माला के साथ स्वामीजी के स्वागत का उत्तरदायित्व मुझे ही सौंपा। स्वामीजी के ट्रेन से प्लेटफार्म पर उतरने पर मैंने उनके गले में माला तथा चरणों में फूल डाल दिये और तब उनके चेहरे की ओर देखा। सहसा अपने सपनों का एक सुपरिचित चेहरा मेरे मन में कौंध उठा। दोनों के बीच समानता इतनी स्पष्ट थी कि मैं प्रशंसा तथा विस्मय के भाव सहित मौन खड़ा रह गया। उन्होंने धीरे से मेरे बारे में – "यह लड़का कौन है?" तथा कुछ और बातें पूछीं। फूल मेरे जुड़े हुए अर्धचेतन हाथों से गिरकर उनके चरणों पर फैल गये। स्वामीजी अपने आसपास खड़े कुछ लोगों से बातें करने को मुड़े। इसके बाद उन्होंने फिर अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टि से मेरे भावविभोर नेत्रों की ओर देखा और मुस्कुराये। इसमें सम्भवत: केवल क्षण भर ही लगा होगा, परन्तु उसी दौरान मानो उन्होंने मुझे असंख्य उपदेश दे दिये – "अपने पिता का त्याग करो, अपने नाम का त्याग करो और तुम जो कुछ खोते हो, उसकी जगह मुझे पूर्ण रूप से प्राप्त करो।" और मेरी अन्तरात्मा ने प्रत्युत्तर में कहा – "मुझे आपके शब्दों पर विश्वास है।"[१] यह विगत काल की कोई कविता या कथा नहीं है, मेरे द्वारा अनुभूत एक सहज सत्य है।

स्वामीजी के साथ जापान के श्री ओकाकुरा[२], स्वामी निर्भयानन्द तथा बोधानन्द और दो बालक – गौर तथा नादू भी आये थे। स्वामी शिवानन्द तथा स्वामी निरंजनानन्द उन दिनों वाराणसी में ही निवास कर रहे थे। और वे भी राजा कालीकृष्ण ठाकुर के 'सौंधावास' में रहने चले आये।

एक दिन शाम के समय चारुबाबू तथा मैंने वहाँ जाकर देखा कि सभी लोग कुर्सियों पर बैठे अंग्रेजी भाषा में स्वामीजी की भारत-यात्रा के विषय में मि. ओकाकुरा से बातें कर रहे हैं। मैंने प्रणाम किया और विनम्रतापूर्वक फर्श पर बिछी दरी पर बैठ गया। स्वामीजी बातें करते हुए बीच में ही ठहर गये और मेरी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा। उनकी दृष्टि उनके इन कथित शब्दों की अपेक्षा कहीं अधिक भावव्यंजक थी – "बैठो भाई, इधर कुर्सी पर आकर बैठो।" यह वाक्य कई बार दुहराने पर उनकी अवज्ञा करना असम्भव-सा हो गया।

'सौंधावास' हमारे सेवाश्रम से पाँच मील दूर था। हम लोग प्रतिदिन वहाँ स्वामीजी का दर्शन करने जाते और बीच-बीच में रात भी वहीं बिता देते। उस समय हम उन्हीं के साथ भोजन करते। स्वामीजी कोई स्वादिष्ट व्यंजन हम लोगों में वितरण करके मुस्कुराते हुए पूछते – "क्यों, कैसा लगा? अच्छा लगा न! खाओ, खाओ, अच्छी तरह खाओ, मुझे अच्छा लगा इसीलिये तुम्हें दिया है।" हमारी चाहे जितनी भी तीव्र इच्छा रहती हो, परन्तु वहाँ प्रतिदिन जाना हमारे लिये सम्भव न था। एक दिन मेरी अनुपस्थिति में स्वामी शिवानन्द ने स्वामीजी से हम लोगों को मंत्रदीक्षा देने का अनुरोध किया। स्वामीजी राजी हुए, परन्तु उन्होंने इसके लिये किसी तिथि का निर्धारण नहीं किया। चारुबाबू तथा हरिदास चैटर्जी ने कहा कि मैं जाकर स्वामीजी से यह बात सत्यापित करूँ। इस कारण मैंने उनसे इस विषय में पूछा। उन्होंने मुस्कुराते हुए मधुर वाणी में कहा – "क्यों, तुम तो पहले से ही एक रामानुजी वैष्णव के रूप में दीक्षित हो! विष्णु की उपासना अति उत्तम है। तुम्हें दुबारा दीक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं।" मैंने निवेदन किया – "परन्तु मैं आपके समान योगी से दीक्षा प्राप्त करना चाहता हूँ।" इस पर उन्होंने मुस्कुराते हुए अपनी सहमति दे दी।

मेरे एक बड़े भाई डॉक्टर थे। कुछ दिनों बाद अचानक उनका देहान्त हो गया। इससे मेरे दिल को इतनी पीड़ा हुई, मानो उसमें बन्दूक की गोली घुस गयी हो। कुछ दिनों बाद स्वामीजी ने मुझसे पूछा – "सुना कि तुम्हारे भाई का देहान्त हो गया है। तुम्हें वह कैसा महसूस हुआ? तुमने अपनी माता को दिलासा देने के लिये क्या कहा?" मेरी सारी बातें सुनने के बाद वे बोले – "यदि मेरे किसी भाई की मृत्यु हुई होती, तो नि:सन्देह मुझे बड़ा गहरा सदमा पहुँचा होता।" उस समय वे स्वयं ही मेरे शोक का अनुभव कर रहे थे और आश्चर्य की बात यह है कि इस सहानुभूति ने तत्काल मेरी सारी पीड़ा दूर कर दी। मुझे बोध हुआ कि वे मेरे सच्चे मित्र और भाई से भी बढ़कर हैं; और मैंने व्रत लेकर स्वयं को पूर्णत: और सदा के लिये उनके चरणों में अर्पित कर दिया।

ऐसी परम्परा है कि अन्तिम कृत्य समाप्त होने तक दीक्षा नहीं दी जाती है, परन्तु स्वामीजी ने अपवाद के रूप में रात को मुझे वहीं ठहर जाने को कहा और दीक्षा के लिये अगला दिन निर्धारित कर दिया। प्रात:काल हम लोगों ने स्नान

१. "Deny thy father, deny thy name, and for that which thou losest – take all myself" ... "I take thee at thy word." (Romeo and Juliet, Act II, scene II)

२. ओकाकुरा को हम लोगों ने अंकल अक्रूर का नाम दे दिया था। अक्रूर श्रीकृष्ण के चाचा थे और उन्हीं के समान ओकाकुरा भी हमारे कृष्ण रूप स्वामीजी को जापान-रूपी मथुरा ले जाना चाहते थे।

किया, दीक्षा के लिये तैयार हुए और उनके कमरे के सामने प्रतीक्षा करने लगे। हमारी आशा के पहले ही स्वामीजी के द्वार खुले और वे प्रकट हुए। उनका मुखमण्डल दिव्य ज्योति से दमक रहा था। अपनी विशेष वाणी में और अपने हस्त-संचालन द्वारा संकेत करते हुए उन्होंने हम लोगों से एक-एक कर आने को कहा। चारुबाबू ने पहले मुझे ढकेला और मैं ज्योंही स्वामीजी के पास पहुँचा, वे बोले – "ओह ! पहले तुम्हीं आये ! ठीक है, वत्स, मेरे साथ आओ।" इसके बाद हम एक अन्य छोटे-से कमरे में गये, जहाँ फर्श पर दो छोटी दरियाँ बिछी हुई थीं। उनमें से एक पर उन्होंने स्वयं आसन ग्रहण किया और दूसरे पर मैं बैठा।

कुछ मिनटों के भीतर ही स्वामीजी गहन ध्यान में डूब गये, उनका शरीर सीधा और कठोर हो गया, उनके सारे अंग स्थिर हो गये, आँखें अर्ध-निमीलित तथा खूब तेज थीं; उनके मुख-मण्डल से दिव्य भाव, शक्ति तथा स्नेह अभिव्यक्त होने लगा। वे आनन्द के मूर्तिमान स्वरूप दिख रहे थे, परन्तु उनकी तपोमय शान्ति ने उनकी सारी भावुकता को वशीभूत कर लिया था, जो बिना किसी तरंग या लहर के वहीं जड़ीभूत तथा स्थिर बनी रही। जिन स्वामीजी ने मुझे अपने प्रेम तथा मुस्कान के आकर्षण के साथ मुझे कमरे में बुलाया था, अब वे वही व्यक्ति नहीं रह गये थे। मेरे समक्ष मानो कोई दूसरा ही व्यक्ति बैठा था, जो प्रेम तथा अन्य सभी भावनाओं के परे जा चुका था।

वे उसी प्रकार अचल भाव से बैठे रहे। समय मानो ठहर गया था। वे मानो अपने भीतर से अभिव्यक्त तथा व्याप्त हो रहे इस दिव्य अस्तित्व के साथ संघर्ष कर रहे थे और वह क्रमश: वशीभूत होकर उनके शरीर के भीतर ही सीमित रहा। उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया और कुछ क्षणों तक उसे पकड़े रहे। इसके बाद उन्होंने मेरे अतीत की कुछ घटनाएँ बतायी और पूछा – "जब तुम स्टीमर से छपरा जा रहे थे और जब किसी ने तुमसे कुछ कहा, तो तुम्हें क्या बोध हो रहा था?" मैं उस घटना के बारे में भूल चुका था, परन्तु उन्होंने मुझे उसे स्मरण करने को कहा। मैं आरा में स्वामी राम-स्वरूपाचार्य से मिला था और उन्होंने बाद में मुझे वैष्णव मंत्र दिया था। वे अगेनगढ़ अंचल के निवासी थे। वे रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुयायी थे। मुझे उनका ध्यान करने को कहा गया और मैंने ज्योंही वैसा किया, वे बोले – "अब श्रीरामकृष्ण का ध्यान करो तथा मेरा रूप उनमें और उसके बाद उनका रूप गणेश में परिणत करो। गणेश संन्यास के आदर्श हैं।"

उनके स्पर्श से मेरी सारी कामनाएँ और चिन्ताएँ लुप्त हो गईं, मन में कोई भी आकर्षण या विकर्षण, कोई भी कामना या आकांक्षा नहीं रह गयी थी। मुझे नहीं मालूम कि मैं कितने समय तक इस अवस्था में रहा, परन्तु धीरे-धीरे मेरा देहबोध लौट आया और कमरे की वस्तुएँ थोड़ी धुँधली सी दीख पड़ने लगीं। इस प्रकार दीक्षा पाने के बाद मैं उठकर खड़ा हो गया और स्वामीजी ने मुझे अगले दीक्षार्थी को कमरे में भेजने को कहा। मैंने बाहर जाकर चारुबाबू को भेजा और उसके बाद हरिदास चैटर्जी भी उसी विधि से दीक्षित हुए।

दीक्षा के बाद हम लोगों ने वहीं पर एक साथ भोजन किया और उसके बाद मुझे वहाँ से विदा लेकर चले आना पड़ा, क्योंकि सेवाश्रम का कार्य मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। यह सेवाश्रम तीन वर्ष पूर्व स्वामी विवेकानन्द के सेवादर्श से अनुप्राणित होकर प्रारम्भ किया गया था। इसके अधिकांश सेवकों ने गृहत्याग कर दिया था और भिक्षा पर ही जीवन-निर्वाह करते थे। इसके फलस्वरूप उनका शरीर दुर्बल होता जा रहा था, परन्तु सेवाश्रम के कार्य में कोई बाधा नहीं आने दी जा सकती थी। वे लोग जी-जान से उसमें जुटे हुए थे और इससे उनका स्वास्थ्य काफी बिगड़ता जा रहा था।

इससे स्वामीजी के मन में बड़ी पीड़ा हुई। एक दिन उन्होंने सेवाश्रम के सभी कर्मियों को बुलाया और हमसे उचित और पुष्टिकर भोजन करने को कहा, क्योंकि दूसरों की सेवा करने के लिये शरीर को स्वस्थ तथा सबल रखना आवश्यक था। उनका कहना था कि किसी का आहार निर्धारित करते समय, कार्य का प्रकार और कर्मी की शारीरिक संरचना – दोनों बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिये। हममें से कई लोग तपस्वी थे और स्वादिष्ट मिठाइयाँ आदि चखते तक न थे, परन्तु स्वामीजी ने इस बात पर जोर दिया कि हमारा पहला और अन्तिम लक्ष्य तथा उद्देश्य सेवा ही है। दूसरों की सेवा करने के लिये शरीर को सुदृढ़ तथा स्वस्थ होना ही चाहिये। इस प्रकार एक सच्चे कर्मी और कर्मयोगी के लिये तपस्या और व्यक्तिगत संस्कार का ज्यादा महत्त्व नहीं था। वे हम लोगों को अपने साथ भोजन करने को कहा करते, ताकि वे देख सकें कि हम लोग उनके निर्देशों का ठीक-ठीक पालन कर रहे हैं या नहीं। हममें से कुछ लोग अपने घरों में ही भोजन कर रहे थे, तथापि उन्होंने हमसे बारम्बार कहा कि हम उन्हीं के साथ खायें और जब कभी सम्भव हुआ, हमने वैसा ही किया।

हम लोगों में से एक युवा कर्मी बड़ा ही दुबला था। स्वामीजी का ध्यान उसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। स्वामीजी हमारे प्रति कितने दयालु थे, इस युवक के उदाहरण के द्वारा यह बात भलीभाँति समझाई जा सकती है। यह युवक बंगाल के किसी सुदूर अंचल से आकर वाराणसी में अटक गया था और इस कारण आवश्यकता के चलते वह एक कर्मी के रूप में सेवाश्रम में सम्मिलित हो गया था। वह बड़ा ही दुर्बल और रुग्ण था। एक दिन वह स्वामीजी का

दर्शन करने गया। स्वामीजी ने उससे हालचाल पूछा और प्रतिदिन अपने साथ भोजन करने को कहा – "बेटा, तुम बहुत सबल नहीं हो और तुम्हें काम भी करना पड़ता है, इसलिये तुम्हें अच्छी तरह खाना चाहिये। तुम प्रतिदिन दोपहर में यहाँ आकर मेरे साथ भोजन किया करो।"

उस युवक को सेवाश्रम का कार्य पूरा करके आते कई बार विलम्ब हो जाता। स्वामीजी से हमेशा अनुरोध किया जाता था कि वे यथासमय अपना भोजन करें, ताकि कहीं उनके मधुमेह रोग में वृद्धि न हो जाय। चिकित्सक तथा गुरुभाई उनसे अपने स्वास्थ्य का विशेष ख्याल रखने की प्रार्थना करते और वे भी इससे सहमत थे। परन्तु उस युवक के प्रति वात्सल्य स्नेह के कारण वे उन लोगों के सारे अनुरोध और अपने स्वास्थ्य के बारे में भूल जाते। भोजन का समय हो जाने पर वे चिन्तापूर्वक उसके बारे में पूछते। वे उसकी प्रतीक्षा करते हुए टहलते रहते और किसी भी क्षण उसके आ पहुँचने की अपेक्षा में बीच-बीच में सड़क तथा दरवाजे की ओर देखते। ज्योंही कोई मिलता, वे तत्काल पूछते – "क्या वह आ गया है? बेचारा बालक ! आज उसे इतनी देरी क्यों हो गयी? वह बड़ा दुर्बल है और उसने अभी तक कुछ खाया नहीं। वह इतना छोटा और दुर्बल है और उसे इतना काम करना पड़ता है !"

जब वह युवक तेजी से चलता हुआ आखिरकार आ पहुँचता, तो स्वामीजी की मुखमुद्रा में फिर परिवर्तन होता, और उनके चेहरे पर आनन्द तथा सन्तोष का वही भाव झलक उठता, जो सुदीर्घ वियोग के बाद अपने पुत्र से मिलनेवाली माँ के मुख पर दीख पड़ता है। मुस्कुराते हुए वे युवक से पूछते – "क्यों भाई, इतनी देरी क्यों हुई? मैं जानता हूँ कि तुम बहुत व्यस्त थे। लेकिन सुबह तुमने नाश्ता किया था क्या? देख, तेरी प्रतीक्षा में अभी तक मैंने भोजन नहीं किया। जल्दी से हाथ-पाँव धोकर आ, तो हम लोग खाने चलें। पहले ही देरी हो चुकी है और मेरा शरीर अस्वस्थ है। समय से भोजन न करने से मेरे रोग में वृद्धि हो जायेगी, इसलिये थोड़ा जल्दी आने की चेष्टा करना। लेकिन तू भी क्या करेगा, मैं जानता हूँ कार्य के दायित्व ने ही तुझे इतनी देर तक रोके रखा था !"

स्वामीजी के पीछे-पीछे वह युवक भी गया और सभी लोग खाने को बैठे। परन्तु खाते समय भी वे उस युवक पर निरन्तर ध्यान रखते और उन्हें जो कुछ भी अच्छा और स्वादिष्ट लगता उसे उठाकर वे उस युवक की थाली में डाल देते। लोगों ने देखा कि स्वामीजी अत्यल्प ही खा रहे हैं, परन्तु बड़े स्नेह के साथ उस युवक को खाते हुए देख रहे हैं। उन लोगों ने बीच-बीच में अनुरोध किया – "स्वामीजी, कृपया आप भी कुछ खाइये, आज आप कुछ भी नहीं खा रहे हैं।" परन्तु भला कौन सुनता? स्वामीजी स्वयं को विस्मृत कर चुके थे और उस बालक के रूप में मानो गोपाल को ही भोजन करा रहे थे।

❖ (क्रमशः) ❖

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

## मेरे अनुभव – ए.पी.जे. अब्दुल कलाम

मैं कभी इस शिक्षा को नहीं भूल सकता। जब मैं दस वर्ष का था। मेरे शिक्षक सुब्रह्मण्यम अय्यर बता रहे थे कि सीगल पक्षी कैसे उड़ता है। मेरे असंख्य संशय या प्रश्न थे और उनसे जितना हो सकता था, उन्होंने समाधान किया। वे हमें समुद्र के किनारे ले गये और पक्षियों को दिखाया तथा उसकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक कार्य की व्याख्या की। अपने शिक्षक से वह सब सुनकर मैं चकित हो गया। जो शिक्षक मुझे पक्षियों के उड़ने के बारे में बता रहे थे, उन्होंने मेरे जीवन का एक लक्ष्य प्रदान किया, वह लक्ष्य था – उड़ने का।

भारतीय समाज में लाखों लोग आदर्श की बातें करते हैं, पर ऐसे लोगों से मुझे एक ही बात कहनी है – यदि हम अपनी पारिवारिक व्यवस्था में असफल हैं, तो हमें बाहर कहीं नेताओं की नैतिकता को देखने का कोई अधिकार नहीं है। ऐसा कहना मेरी धृष्टता होगी कि मेरा जीवन किसी भी व्यक्ति के लिये आदर्श हो सकता है, पर एक सुदूर ग्रामीण क्षेत्र में रहते हुए, जैसे मेरा भाग्य निर्मित हुआ, उससे कुछ गरीब बच्चे, जो अल्प सुविधाप्राप्त समाज से हैं, दिलासा पा सकते हैं। यह उन बच्चों को उनके भ्रम, पिछड़ेपन और निराशा से मुक्त करने में सहायता कर सकता है।

लोग विस्मित हो जाते हैं कि कैसे मैं आध्यात्मिकता के साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोण में सन्तुलन बनाये रखता हूँ। इस विषय में मेरा कहना है कि यह बहुत ही सरल है। जब मैं आकाश की ओर देखता हूँ, तो लाखों तारें दिखते हैं। उसमें से एक तारा – सूर्य ही इस घूमते हुये सौर-मण्डल को रखने के लिये पर्याप्त है। हम लोगों को अभी खोज करना है कि वहाँ और कितने सौर-मण्डल हैं। यह विचार मुझे अभिभूत कर देता है। यह मुझे अनुभव कराता है कि हम केवल जगत् में बोलते हैं। यह मुझे विश्वास करने का कारण, युक्ति देता है कि वहाँ कहीं कुछ है, जिसकी ओर हम वापस जा सकते हैं। इसलिये मैं प्रार्थना करता हूँ। मैं अपने जीवन में जो चाहता था, वह सब कुछ मुझे मिला है। बल्कि उससे कहीं अधिक ही मिला है। मैं अपने लिये प्रार्थना करने की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता। मैं अपने देश, भारतवासियों और युवकों के लिये प्रार्थना करता हूँ, जो इस देश को महानतम शिखर तक ले जायेंगे। ❑❑❑

# माँ श्री सारदा देवी (८)

***आशुतोष मित्र***

यह रचना 'श्रीमाँ' नामक पुस्तक के रूप में १९४४ ई. के नवम्बर में प्रकाशित हुई थी। यहाँ उसके प्रथम तीन अध्याय ही लिये गये हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस अंश का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

निश्चित हुआ कि माँ गाँव (जयरामबाटी) जायेंगी। इस बार नये रास्ते से विष्णुपुर होकर जाना होगा। इस पथ से जयरामबाटी के पास आमोदर नदी के अलावा अन्य कोई नदी नहीं है, जिसे पार करना पड़े। पहले केवल एक बार पुरी से नानी को लिवाने इसी रास्ते से गया था। लेकिन उस समय अकेला ही गया था और बिना कहीं ठहरे विष्णुपुर से कोतुलपुर तक भाड़े की ऊँटगाड़ी से गया था। लेकिन इस बार माँ को ले जाते समय उनके पहुँचने के पहले ही रास्ते में चट्टी, भोजन, बैलगाड़ी आदि की व्यवस्था करना अति आवश्यक था, इसलिए उनके यात्रा के एक दिन पहले ही मैं रात की गाड़ी से अकेले चल दिया। जाने के पूर्व मैंने योगीन-माँ के सम्बन्धी डिटेक्टिव इंस्पेक्टर शशीभूषण डे से विष्णुपुर और कोतुलपुर थानों के नाम दो पत्र लिखवा कर साथ ले लिये।

अगले दिन सुबह विष्णुपुर पहुँचकर दरोगा की सहायता से चट्टी, रसोइये और बैलगाड़ी की व्यवस्था की। चट्टी में माँ के लिये ठाकुर-पूजा की, स्नान के लिये जल तथा भोजन आदि की व्यवस्था की और दिन के डेढ़ बजे गाड़ी लेकर स्टेशन पहुँचा।

पूर्व व्यवस्था के अनुसार कृष्णलाल और गणेन्द्रनाथ माँ को लेकर सुबह की गाड़ी से रवाना हुए थे और अपराह्न में डेढ़ बजे वहाँ आ पहुँचे।

चट्टी में पहुँचकर माँ सारी व्यवस्था देख बड़ी प्रसन्न हुईं। कृष्णलाल और गणेन्द्रनाथ रात की गाड़ी से कलकत्ते लौट गये। भोजन के लिये बैठकर कृष्णलाल बोले – "इतने प्रकार की रसोई बनी है – शुक्तो से लेकर चटनी तक!"

चार बैलगाड़ियों में माँ तथा उनकी संगिनियों और सामान आदि लेकर हम लोग शाम को कोतुलपुर की ओर रवाना हुए। रास्ते में जयपुर के पास एक जंगल पड़ता है। गाड़ियाँ सारी रात चलकर सुबह कोतुलपुर पहुँची। वहाँ दरोगा की सहायता से चट्टी और ब्राह्मण की व्यवस्था कर झटपट रसोई चढ़ा दी गयी। माँ के लिए एक पालकी की भी व्यवस्था हुई। जेठ का महीना था, बड़ी गर्मी थी, अत: एक हाथ-पंखा और एक सुराही जल भी पालकी में रख दिया गया। बाकी हम सभी लोग बैलगाड़ी में सवार होकर घुमावदार रास्ते से होकर शाम के बाद जयरामबाटी पहुँचे।

इस बार मैं जयरामबाटी में एक महीने से अधिक रहा। प्रतिदिन माँ के साथ विभिन्न विषयों पर बातें होतीं। उनमें से प्रकाशित करने योग्य कुछ बातें नीचे लिख रहा हूँ –

बातचीत के दौरान एक दिन वे बोलीं – "जब मैं पहली बार अपनी ससुराल कामारपुकुर गयी, तो नहाने के लिये हालदारपुकुर जाना पड़ता था। एक तो नयी बहू और उस पर कच्ची उम्र – मैं तो भय से काठ हो गयी। कैसे लोगों के सामने से आना-जाना करूँगी? डरते-डरते घर से निकली, तो देखा – मेरी ही आयु की आठ लड़कियाँ, न जाने कहाँ से आकर मुझे घेरकर खड़ी हो गयीं और बोलीं – 'नहाने जाओगी? चलो, हम तुम्हें घेरकर ले चलेंगी। कोई तुम्हें देख नहीं सकेगा।' मैंने पूछा – 'तुम लोग कौन हो जी?' वे बोलीं – 'तुम नयी बहू हो न! हम तुम्हारी सखी हैं – तुम्हारे पास ही रहती हैं।' मैंने सोचा – मुहल्ले की लड़कियाँ होंगी। वे मुझे साथ लेकर चलने लगीं, चार लड़कियाँ मेरे आगे और चार पीछे। नहाने के बाद फिर मुझे घर तक पहुँचा गयीं। जाते समय कह गयीं – 'हम लोग रोज तुम्हें आकर अपने साथ ले जायेंगी, फिर वापस पहुँचा देंगी। तुम हमारी सखी हो न!" उसी दिन से वे रोज मुझे ले जातीं और फिर पहुँचा जातीं।"

मैंने माँ से पूछा – "वे लोग क्या महामाया-रूपी आपकी अष्टसखियाँ थीं?" माँ ने कहा – "कौन जाने बेटा! तुम तो केवल ये ही बातें करते हो!" मैं बोला – "भुलावा मत दीजिये। आप राख से ढँकी बिल्ली हैं न!" वे धीरे से हँसी।

एक बार मैंने पूछा – "माँ, सुना है कि ठाकुर के भक्त हरीश ने आप पर आक्रमण किया था – क्या यह सत्य है?"

माँ बोलीं – "हाँ बेटा, हरीश बड़ा अच्छा था – ईश्वरकोटि था। उसकी पत्नी ने उसे कोई दवा दी थी, उसी से उसका दिमाग खराब हो गया था। उस दिन कामारपुकुर के मकान में मेरे अलावा और कोई नहीं था। उससे बचने के लिए सात बार धान की ढेरी के चारों ओर दौड़ते-दौड़ते मैं हाँफने लगी।

जब और नहीं दौड़ सकी, तब न जाने क्या भाव आया कि उसे गिराकर उसकी छाती पर घुटना रखकर एक हाथ से उसकी जीभ खींचकर बाहर निकाला और दूसरे हाथ से उसके गाल पर एक थप्पड़ मारा। (बाद में) मेरा हाथ सूज गया था। वह 'हाँ-हाँ' कर हाँफने लगा। जब लगा कि हो गया है, तब उसे छोड़ दिया। उसके बाद से वह फिर नहीं आया। निरंजन से यम जैसे डरता था। वह खूब देता था न !

मैंने पूछा – "आपने उस समय बगलामुखी मूर्ति धारण किया था क्या? मठ में तो ऐसा ही सुना है।"

माँ ने कहा – "क्या पता बेटा ! उस समय तो मैं अपने आपे में नहीं थी।"

मैं बोला – "आप पकड़ में नहीं आयेंगी – राख से ढँकी बिल्ली हैं न।" वे फिर मुस्कुराने लगीं।

एक बार ठाकुर के लिए तारकेश्वर में धरना देने के प्रसंग में माँ बोलीं – "जब किसी प्रकार से भी कुछ नहीं हुआ, तो सोचा कि बाबा तारकेश्वर नाथ के पास धरना दिया जाय। ठाकुर ने मना नहीं किया। दो दिन धरना दिये पड़ी रही। वहीं सो रही थी कि आधी रात को सहसा एक आवाज से नींद खुल गयी। जैसे कुम्हार के यहाँ सजाकर रखी हुई हंडियों को लाठी मारकर तोड़ दिया जाय, मानो वैसी ही आवाज हुई। और इसके साथ ही मन में आया – यही तो शरीर है ! इस शरीर के रहने या न रहने से भी क्या? यह इसी प्रकार तो टूट जायेगा। मन में आया – संसार में कौन किसका पति है और कौन किसकी पत्नी है? एक दिन सब इसी प्रकार तो नष्ट हो जायेगा ! कोई किसी का नहीं, मनुष्य शरीर धारण करता है और वह इसी प्रकार टूट जाता है। तो फिर किसके लिए धरना देना। जगत् मेरे लिए शून्य हो गया। धीरे-धीरे खिसककर मन्दिर के पीछे गयी। नाली से स्नान-जल लेकर आँख-मुँह पर छिटका और सुबह होने पर लौट आयी। लौटने पर ठाकुर ने इशारे से पूछा, फिर अंगूठा हिलाकर कहा – कुछ भी नहीं हुआ न !"

किसी-किसी दिन माँ, ठाकुर और अपने बारे में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें सुनातीं। एक दिन इसी प्रकार उन्होंने एक-एक कर कई घटनाएँ सुनायीं। उनमें से मैं जितनी लिपिबद्ध कर सका हूँ, उन्हें यहाँ दे रहा हूँ –

"गोलाप क्या कम है? दक्षिणेश्वर में मुझे ठाकुर के पास जाते देखकर उसे ईर्ष्या होती थी। एक दिन कह उठी, 'तुम ठाकुर के पास क्यों जाती हो?' मैं किसी की बात सहन नहीं कर पाती। जब बात सुनने लायक काम ही नहीं करती, तो फिर सुनूँ भी क्यों? मैंने जाना बन्द कर दिया। उस समय कैसे दिन बीते हैं ! शायद शाम के समय कभी ठाकुर को एक बार झाउतला जाते देख पाती, या वह भी नहीं। – और वह भी दूर से ही। पर मैं उसी से सन्तुष्ट रहती।

"कामारपुकुर में और यहाँ भी स्त्रियों से सुनती रहती – बच्चों की माँ हुए बिना स्त्री कोई काम नहीं कर सकती। वह किसी शुभ काम में भाग नहीं ले सकती। उस समय मैं छोटी थी। ये बातें सुन-सुनकर मुझे भी दुख होता – ठीक ही तो है, क्या मुझे एक बच्चा भी नहीं होगा? दक्षिणेश्वर जाने पर एक बार यह बात याद आयी। जिस दिन याद आयी – मैंने किसी से कुछ कहा नहीं था – ठाकुर स्वयं ही कहने लगे – 'तुम्हें चिन्ता कैसी? तुम्हें मैं ऐसे-ऐसे रत्न लड़के दे जाऊँगा, जो व्यक्ति को सिर काटकर तपस्या करने पर भी नहीं मिलते। बाद में देखोगी, तुम्हें इतने लड़के – 'माँ-माँ' – कहकर बुलायेंगे कि तुम्हारे लिये सँभालना कठिन हो जायेगा।'

"गोलाप के वह बात कहने पर कुछ दिनों तक मैं ठाकुर के पास नहीं गयी।

"जिस दिन पहली बार गयी – जाते ही मैंने पूछा, 'मैं तुम्हारी कौन हूँ?' वे तत्काल काली-मन्दिर की ओर संकेत करके बोले, 'वहाँ जो हैं', फिर बोले, 'यहाँ भी वही है।' "

माँ की इस बात पर मेरे मन में एक प्रश्न उठा, जिसे पूछे बिना मैं नहीं रह सका। मैंने पूछा – "सुबोध महाराज[३१] से सुना है, ठाकुर के देहत्याग के बाद क्या आप 'मेरी माँ काली तुम कहाँ चली गयी' – कहकर रो उठी थी?" माँ ने उत्तर दिया – "इतना सब मुझे याद नहीं, बेटा।" पर मैंने छोड़ा नहीं। फिर पूछा – "आप अपनी ओर से उन्हें किस रूप में देखती थीं?" पहले तो मुझे ठीक उत्तर नहीं मिला, परन्तु बहुत प्रयास करने के बाद स्पष्ट उत्तर मिला –"मैं भी उन्हें इसी प्रकार देखती थी।"

उपरोक्त बातचीत से न जाने क्यों माँ का मन ठाकुर के देहत्याग की ओर चला गया। वे और भी कहने लगी – "जिस दिन वह होना था, उस दिन सुबह से ही सब कुछ उल्टा-पुल्टा होने लगा। लड़कों के लिए खिचड़ी पका रही थी, वह जल गयी। ऊपर-ऊपर का उन्हें खिलाकर नीचे का हम लोगों ने खाया। मेरी एक लाल पाड़ की चुन्नट दी हुई साड़ी थी, न जाने कहाँ खो गयी, शायद कोई चुरा ले गया। पानी की सुराही, उठाने गयी तो हाथ से गिरकर टूट गयी।"

पिछले विषय पर पुन: लौटकर माँ कहने लगीं – "(दक्षिणेश्वर में) एक दिन खाने की थाली लेकर उनके कमरे में जा रही थी, तभी एक स्त्री आकर बोली – 'माँ, मुझे दो न, मैं ले जाती हूँ।' मैंने तत्काल दे दिया। परन्तु ठाकुर खाने नहीं बैठे। वह स्त्री थाली रखकर ही चली गयी थी। पूछने पर ठाकुर बोले, 'तुमने उसके हाथ से क्यों भेजा? तुम क्या उसे नहीं जानती? अब उसका स्पर्श किया हुआ कैसे

३१. स्वामी सुबोधानन्द

खाऊँ?' बहुत विनती करने पर बोले, 'वचन दो कि फिर कभी उसके हाथ से नहीं भेजोगी। मैंने हाथ जोड़कर कहा, 'मुझसे यह नहीं होगा, ठाकुर ! मुझे 'माँ' कहने पर मैं मना नहीं कर सकती। और तुम केवल मेरे ही ठाकुर नहीं हो – तुम तो सभी के हो।' तब उन्होंने सन्तुष्ट होकर खा लिया।

"ठाकुर जब बातें करते, तो बोलते ही जाते – बातें समाप्त ही नहीं होती थीं। सुनते-सुनते मैं जमीन पर आँचल बिछाकर सो जाती थी। स्त्रियाँ मुझे देखकर कहतीं – 'ऐसी सब बातें ! सुनोगी नहीं?' ठाकुर उन्हें मना करते हुए कहते – 'इसे मत जगाओ। यह यदि सब सुन लेगी, तो ठहर नहीं सकेगी – सीधा दौड़ जायेगी।"

एक बार मैंने माँ से कहा – "स्वामीजी के मुँह से सुना है कि ठाकुर बलरामबाबू के घर का अन्न खाते थे?" माँ ने कहा – "हाँ, मुझसे कहा था – मेरे बलराम का अन्न शुद्ध अन्न है। वे लोग जगन्नाथ को भोग देते हैं। तुम खाना।"

स्वामीजी और बाबूराम महाराज के हाथ का छूआ अन्न तो ठाकुर ने खाया था? – इस प्रश्न के उत्तर में माँ ने कहा – "नरेन की सबसे तुलना मत करो। और बाबूराम? – ईश्वरकोटि – ठाकुर कहते थे – उसका श्रीमती (राधा) का भाव है !"

इसके बाद कई बार जयरामबाटी जाना हुआ। किसी बार भी एक महीने से कम नहीं रहा। एक बार तो ढाई महीने था। अधिकांशत: अकेला ही गया था। एक बार नित्यगोपाल के शिष्य भव और नादू (ब्रह्मचारी हरेन्द्र)[३२] मेरे साथ गये। एक बार कालीकृष्ण महाराज, एक बार डॉक्टर काँजीलाल और एक बार माँ सहित गोलाप-माँ तथा कुसुम भी साथ गयी थीं। जयरामबाटी में रहते समय कभी कोतुलपुर और कभी कामारपुकुर से बाजार करके मैं सामान लाता। कामारपुकुर में आबनूस लकड़ी का सामान – हुक्का, हुक्के की नली, बेलन आदि बहुत सुन्दर तथा मजबूत बनते हैं। वहाँ से थोड़ी ही दूरी पर गढ़ और खाई से घिरा हुआ मान्दारण[३३] ग्राम है। वहाँ के मच्छरदानी का थान और गमछा प्रसिद्ध है। कलकत्ते के भक्तों के लिए मुझे ये सब चीजें खरीदकर लानी पड़ती थीं। ये सब विषयान्तर की बातें हैं। अब हम पुन: अपने आलोच्य विषय पर आते हैं।

बँगला सन् १३१२ में कलकत्ते से जगद्धात्री-पूजा के उपकरण आदि लेकर जाने पर माँ ने पूरी शक्ति से पूजा में भाग लिया था, क्योंकि पिछले वर्ष वे कलकत्ते में थीं और पूजा उनकी अनुपस्थिति में हुई थी। इस बार पूजा के पूर्व दिन करीब ग्यारह बजे तक अविराम परिश्रम करने से माँ थक गयीं। तब भी उन्होंने पानी तक नहीं पिया था। बहुत विनती करने के बाद वे ठाकुर-पूजा करने बैठीं। सेवक को द्वार पर बैठा दिया, ताकि पूजा के समय कोई उन्हें तंग न करे। वह तब तक बैठकर उनके लिए मिश्री का शर्बत बनाने लगा।

पूजा के बाद मिश्री का शर्बत पीते हुए माँ बोलीं – "इस समय (पूजा-मण्डप) में नहीं जाऊँगी – न बुलाने पर नहीं जाऊँगी – थोड़ी देर बैठ लूँ।" सेवक[३४] ने कहा – "ठाकुर और आपको तो फिर आना होगा – इस बार बाउल के रूप में।" माँ पान खाते हुए बोलीं – "तुम लोगों में से भी किसी को छुटकारा नहीं मिलेगा। इस बार जो-जो आये हैं, उन सभी को आना होगा – कोई बाकी नहीं रहेगा। आकाश में चाँद देखते हो न? चाँद क्या अकेले निकलता है? चारों ओर तारा-मण्डल को साथ लेकर निकलता है।" सेवक ने कहा – "हम लोग तो खूब तैयार हैं, आपको तो पायेंगे।"

यह घटना लिखते-लिखते दो घटनाएँ एक साथ याद आ रहीं हैं। ये दोनों यहाँ लिखने से रसभंग नहीं होगा।

पहली, तो ठाकुर की बैठी हुई अवस्था में उनके शरीर का जो फोटो खींचा गया है, सुना है कि उसके निगेटिव से पहली बार बारह फोटो बनाये गये थे। इन बारहों का हिसाब हम लोग नहीं जानते। जिन तीन के बारे में हम लोग जानते हैं, उन्हीं के बारे में यहाँ बता रहा हूँ। एक की योगीन-माँ नित्य-पूजा करती हैं – जिस समय की बात हम कर रहे हैं, उस समय वह काफी धूमिल हो चुका है। दूसरे की बेलूड़ मठ में पूजा होती है। यह भी कुछ-कुछ म्लान हो गया है। तीसरे की माँ पूजा करती थीं। इसके म्लान की तो बात ही नहीं, देखते ही लगता मानो अभी बनाया गया है। हमारा यह वृत्तान्त बंगाब्द १३१८ (१९१२?) तक का है।

दूसरी बात – माँ की एक विशेषता ने हमें आकृष्ट किया था। कलकत्ता-निवास के दौरान माँ जिस दिन पूजा के अन्त में ठाकुर को सम्बोधित करके कहतीं – "लगता है तुम्हें यहाँ के सन्देश-रसगुल्ले अच्छे लग रहे हैं? लगता है जयरामबाटी के बड़े तालाब का जल और तुलसी तुम्हें नहीं भाते?" तभी समझ लेता कि माँ ने गाँव जाने का निश्चय किया है – भक्तों का सारा अनुनय-विनय निष्फल जायेगा।

३२. स्वामीजी का भानजा

३३. साहित्य-सम्राट् बंकिमचन्द्र के 'दुर्गेशनन्दिनी' उपन्यास का लीलास्थल – गढ़ मान्दारण। यहाँ से थोड़ी दूर उत्तर में काँटाली नामक गाँव के शिवमन्दिर में दुर्गेशनन्दिनी से जगतसिंह की प्रथम मुलाकात हुई थी।

३४. लेखक स्वयं

❖ (क्रमशः) ❖

## रामकृष्ण मिशन को राष्ट्रीय-सद्भावना-पुरस्कार

भारत सरकार के गृह मन्त्रालय द्वारा संचालित एक स्वायत्त संस्था राष्ट्रीय साम्प्रदायिक सद्भाव प्रतिष्ठान ने २००५ का राष्ट्रीय साम्प्रदायिक सद्भावना पुरस्कार रामकृष्ण मिशन को साम्प्रदायिक सद्भाव और राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देने में उत्कृष्ट योगदान के लिये प्रदान किया। यह पुरस्कार १, मई २००६ को विज्ञान भवन, दिल्ली में आयोजित एक समारोह महामहिम राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम द्वारा रामकृष्ण मठ और मिशन के महासचिव स्वामी स्मरणानन्द जी को दिया गया। इस पुरस्कार की कुल राशि पाँच लाख रूपये थी। उनके प्रपत्र में कहा गया है - "रामकृष्ण मिशन देश और विदेश के विभिन्न भागों में अवस्थित अपनी १५० से भी अधिक सहयोगी केन्द्रों के माध्यम से सर्वधर्म-बोध और सर्वधर्म सद्भाव को बढ़ावा देने के लिये सौ से अधिक वर्षों से सक्रिय कार्य कर रहा है। अपनी पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों और व्याख्यानों द्वारा इसने विभिन्न धर्मों के सार्वभौमिक सिद्धान्तों को लोकप्रिय बनाया है। वे प्रायः सर्वधर्म-सम्मेलनों का आयोजन करते रहते हैं, जिनमें विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि अपने-अपने धर्म के मुख्य तत्त्वों की व्याख्या करते हैं। वस्तुतः रामकृष्ण मिशन इस विवादग्रस्त विश्व में साम्प्रदायिक सद्भावना की अनूठी मिशाल है।"

## बेलगाम रामकृष्ण मिशन में कर्नाटक के मुख्यमंत्री

रामकृष्ण मिशन आश्रम, बेलगाम में कर्नाटक के माननीय मुख्यमंत्री श्री एच. डी. कुमारस्वामी और उप-मुख्यमन्त्री श्री बी. एस. येदीयुरप्पा, विधानसभा में प्रतिपक्ष के नेता श्री एच. के. पाटिल तथा मंत्रिमण्डल के सदस्यों ने ८ अप्रैल, २००६ को रामकृष्ण मिशन आश्रम, बेलगाम का परिदर्शन किया।

मुख्यमंत्री ने **'स्वामी विवेकानन्द विद्यार्थी विकास केन्द्र'** का शिलान्यास किया। इस केन्द्र में विश्वविद्यालयीय पाठ्य-पुस्तकों का ग्रंथालय, व्यक्तित्व-विकास हेतु वाचनालय तथा कक्षाएँ चलायी जायेंगी। साथ ही उन्होंने विकलांगों को २ लाख ७५ हजार रुपये की लागत से खरीदी गयी ५० तिपहिया साइकिलें और २५ ह्वील-चेयर (पहियेदार कुर्सियों) का भी वितरण किया।

इस अवसर पर आयोजित जनसभा में माननीय मुख्यमंत्री जी ने घोषणा की कि सरकार शीघ्र ही आश्रम के निवेदन पर विचार करेगी तथा निकटवर्ती पी. डब्ल्यू. डी. की २.६२ एकड़ जमीन अत्यल्प कीमत पर आश्रम को लीज पर प्रदान करेगी।

## इस वर्ष देश में विभिन्न स्थानों पर विवेकानन्द-जयन्ती मनायी गयी - कुछ झलकियाँ

**छत्तीसगढ़ की राजधानी रायपुर** शहर के विभिन्न स्थानों में, विविध संस्थानों एवं समितियों द्वारा विवेकानन्द जयन्ती सोल्लास मनाई गयी। ११ जनवरी को, स्वामीजी की जयन्ती की पूर्व संध्या पर जारी एक सन्देश में **छत्तीसगढ़ के मुख्यमंत्री डॉ. रमन सिंह** ने कहा, "स्वामी विवेकानन्द एक युगप्रवर्तक मनीषी और भारत के अनमोल रत्न थे। वे युवाओं के प्रेरणास्रोत थे। उन्होंने अपने क्रान्तिकारी विचारों के माध्यम से आधुनिक भारतीय समाज में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का ऐतिहासिक कार्य किया। उन्होंने भारतीय जीवन-दर्शन और हमारी सांस्कृतिक विशेषताओं को सात समुद्र पार तक के देशों में पहुँचाकर भारत की गौरवगाथा से बाहरी दुनिया को अवगत कराया।" १२ जनवरी को 'युवा दिवस' के इस पुण्य अवसर पर छत्तीसगढ़ के माननीय मुख्यमंत्री ने रायपुर नगर के केन्द्र में स्थित बूढ़ा तालाब के बीचो-बीच स्थित नीलाभ उद्यान में स्वामी विवेकानन्द जी की सुप्रसिद्ध विशालतम ध्यान-प्रतिमा पर माल्यार्पण किया और अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की। उनके साथ लोक-निर्माण राज्य-मंत्री राजेश मूणत, लोकसभा सांसद करुणा शुक्ला, महापौर सुनील सोनी, निगम के नेता प्रतिपक्ष कुलदीप जुनेजा और बड़ी संख्या में पार्षदों और गणमान्य नागरिकों ने स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति पर पुष्पांजलि अर्पित की। मुख्यमंत्री जी ने इस स्थल के विकास, सौन्दर्यीकरण एवं पर्यटकों के लिये अधिक-से-अधिक आकर्षक तथा सुविधाजनक बनाने हेतु महापौर सुनील सोनी और पार्षदों से विचार-विमर्श किया तथा इससे सम्बन्धित भावी कार्य-योजना पर विचार-विमर्श हेतु पुनः शीघ्र ही आने का वचन दिया। उन्होंने कहा कि वर्तमान प्रवेश-द्वार के स्थान पर एक नया विशाल प्रवेश-द्वार बनवाने और मार्ग के दोनों ओर फव्वारे लगाने की योजना भी है। उन्होने मुख्य प्रवेश-द्वार से नीलाभ उद्यान तक लगभग छह सौ फीट पहुँच-मार्ग के दोनों किनारों पर कटाव को रोकने के लिये महापौर को हरी घास लगवाने का सुझाव दिया तथा इस सौन्दर्यीकरण में हरियाली बढ़ाने पर विशेष बल दिया।

दुर्गा शिक्षण समिति द्वारा संचालित **विवेकानन्द महा-विद्यालय** ने इस अवसर पर अपने वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में छात्रों को सम्बोधित करते हुये राज्य के **संस्कृति एवं पर्यटन मंत्री**

**श्रीबृजमोहन अग्रवाल** ने युवा छात्र-छात्राओं का आह्वान करते हुए कहा कि वे महान् आध्यात्मिक गुरु स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों और आदर्शों को अपने जीवन में अपनायें। उन्होंने कहा कि स्वामी विवेकानन्द जी ने लगभग ११२ वर्ष पहले अमेरिका के शिकागो धर्म-सम्मेलन में भारत की आध्यात्मिक शक्ति, धार्मिक सहिष्णुता तथा सर्वधर्म समभाव का अलख जगाया था।

**भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्रालय** ने १२ जनवरी को स्वामीजी की जयन्ती के उपलक्ष्य में 'नवभारत' समाचार-पत्र में युवकों के प्रति उनके सन्देश के साथ एक सचित्र विज्ञापन प्रकाशित कराया।

'नवभारत' समाचार-पत्र ने १३ जनवरी को चित्र प्रकाशित किया, जिसमें रायपुर शहर के किसी विद्यालय के कुछ छात्रों ने स्वामीजी की वेशभूषा में सजकर रैली निकाली थी और अपने अभिनय से सबका मन मोह लिया था।

**रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर** और **रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर** के संयुक्त तत्त्वावधान में विश्वविद्यालय परिसर में 'विवेकानन्द जयन्ती' मनायी गयी। विश्वविद्यालय स्थित स्वामी विवेकानन्द जी की मूर्ति पर कुलपति एल. एन. चतुर्वेदी, कुलाधिसचिव डॉ. ओमप्रकाश वर्मा तथा विवेकानन्द आश्रम के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी के द्वारा माल्यार्पण किया गया। विश्वविद्यालय की राष्ट्रीय सेवा-योजना की स्थानीय इकाइयों ने भी सोत्साह भाग लिया। राष्ट्रीय सेवा-योजना के बैनर लिये विभिन्न आदर्श वाक्यों की आवृत्ति करते हुये विभिन्न विद्यालयों के छात्र-छात्राओं ने अपनी सहभागिता दी तथा बड़े ही धैर्यपूर्वक मेधावी छात्रों एवं विद्वान् वक्ताओं के व्याख्यान सुने। विवेकानन्द विद्यापीठ, कोटा (रायपुर) के छात्र-छात्राओं के राष्ट्रगान के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम के अन्त में सभा में उपस्थित सभी लोगों को विवेकानन्द आश्रम द्वारा जलपान और प्रेरक पुस्तकें प्रदान की गयीं। (आश्रम में आयोजित विवेकानन्द जयन्ती की विस्तृत रिपोर्ट विगत जून अंक में पढ़ें।)

**तमिलनाडु के मदुरै नगर में** भी स्कूल के बच्चों ने स्वामीजी की जयन्ती की पूर्वसंध्या पर स्वामीजी के समान वेशभूषा से सुसज्जित हुये। १३ जनवरी को 'सेन्ट्रल क्रॉनिकल' समाचार पत्र ने १४ बच्चों का बड़ा ही मनमोहक चित्र प्रकाशित किया है।

**कोलकाता** में दक्षिणेश्वर स्थित **सारदा मठ** के द्वारा शोभा-यात्रा निकाली गई , जिसे १३ जनवरी, के 'आनन्द-बाजार' समाचार पत्र ने रैली के चित्र सहित प्रकाशित किया है।

**दिल्ली, रामकृष्ण मिशन** द्वारा इस अवसर पर विभिन्न प्रकार की प्रतियोगितायें आयोजित की गईं तथा विजेताओं को पुरस्कार प्रदान किया गया, जिसके मुख्य अतिथि केन्द्रीय सूचना-प्रसार मंत्री प्रियरंजन दासमुंशी थे। उन्होने कहा कि राजीव गाँधी ने अपने प्रधानमंत्रीत्व काल में इस दिन को 'राष्ट्रीय युवा दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय लिया। विवेकानन्द जी के आदर्श देश के युवकों के लिये अपनाना हितकर होगा, ऐसा राजीव गाँधी मानते थे। इसी दृष्टि से उन्होंने केन्द्रीय मंत्री-मण्डल की सभा में यह निर्णय लिया। श्री मुंशी ने बताया कि उन्होंने अपने छात्र-जीवन में कॉलेज में विवेकानन्द जी के ऊपर निबन्ध लिखकर पाँच बार प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था। स्वामी गोकुलानन्द जी ने युवकों का आह्वान किया कि वे स्वामीजी के आदर्श का अवलम्बन कर आगे बढ़ें।

## *जीवन का रूपान्तरण*

रामस्वरूप जिलोवा के जीवन में एक दिन ऐसा आया जब वह अपने जीवन से तंग आ गए और उनका मन खिन्न और विरक्त-सा हो गया। उस समय वह मनोविकार से पीड़ित थे और पी.जी. आई में उनका लम्बे समय से इलाज चल रहा था। ऐसी मनोदशा लिए वह घर से निकल पड़े –न रास्ते की खबर, न मंजिल का पता।

चलते-चलते वे स्थानीय रामकृष्ण मिशन आश्रम (चण्डीगढ़) की लाइब्रेरी में जा पहुँचे और यहाँ से शुरू हुई उनके नवजीवन की क्रान्तिमय यात्रा ! यह घटना एक ऐसे व्यक्ति की है, जिसकी जीवन-धारा बदल दी 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' नामक एक ग्रन्थ ने। शराब, कबाब, ताश, जुआ शायद ही ऐसी कोई बुरी आदत हो, जो राम स्वरूप में न रही हो। अपने ही शब्दों में – नरक का जीवन जी रहे थे वे।

आश्रम की लाइब्रेरी में बैठकर महान् संत परमहंस रामकृष्ण देव, परम तेजस्विनी माँ सारदा तथा अग्निपुंज स्वामी विवेकानन्द के शक्तिदायी तथा प्रेरणादायी विचार पढ़कर रामस्वरूप के जीवन में मानो एक क्रान्ति का जबर्दस्त उफान उठा। उस दिन ऐतिहासिक क्षण में रामस्वरूप की सारी बुरी-आदतें, कमजोरियाँ, ना-कामियाँ आदि एक ही झटके में खलास हो गईं। 'स्वामी विवेकानन्द' के प्रबल वचन – '**आत्मनो मोक्षार्थं जगत् हिताय च**' यानि – अपने लिए मोक्ष की अभिलाषा रखते हो, तो पहले परोपकारी बनो, मोक्ष अपने आप मिल जाएगा – ने काफी हद तक रामस्वरूप को प्रभावित किया। आज रामस्वरूप पूरी तरह बदल चुके हैं। उन्होंने आश्रम से मंत्र-दीक्षा भी ले ली है। सफेद वस्त्र, शाकाहारी भोजन, सादा जीवन और सुबह-शाम नियमित रूप से ध्यान एवं भजन। यह दिनचर्या है रामस्वरूप की अब।

रामस्वरूप पंजाब पुलिस में सीनियर सुपरिटेंडेंट के पद पर कार्यरत हैं और अवकाश पाते ही वे आश्रम की लाइब्रेरी में सेवा करते हैं और अन्य लोगों को भी अच्छी पुस्तकें पढ़ने, साधुसंग और नारायण-सेवा करने की प्रेरणा देते हैं। इतना ही नहीं, वे आश्रम की मोबाइल चिकित्सा-सेवा-वैन में भी स्वामीजी और डॉक्टरों के साथ जाकर गाँव-गाँव में निर्धन और बीमार लोगों की सेवा करते हैं। उनके परिवार के लोग, जो पहले उनके आश्रम आने के खिलाफ थे, आज स्वयं भी भक्त बन गए हैं और पूरे दिलो-जान से आश्रम की सेवा में समर्पित हैं। (दैनिक भास्कर, झाँसी से साभार)